तृतीय अध्याय

निघण्टु एवं निरुक्त के पदों का वर्गीकरण

- ऐतिहासिक दृष्टिकोण,
- व्याकरणिक दृष्टिकोण,
- निरुक्त में पद विभाग :
    - आख्यात,
    - नाम,
    - उपसर्ग,
    - निपात ।

तृतीय अध्याय

निघण्टु एवं निरुक्त के पदों का वर्गीकरण

भाषा में भावाभिव्यञ्जना हेतु शब्दों या पदों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । भाषा का विशालतम भवन पदों की दृढ नींव पर ही आश्रित रह सकता है । भाषा में पदों का नियमन अनुशासन किस प्रकार हो इस विषय पर विचार करने के कारण ही व्याकरण शास्त्र का नाम 'शब्दानुशासनम्' भी कहा गया है । भाषा में अर्थबोधन के लिए शब्द और अर्थ की सङ्गति परमावश्यक है । अतएव शब्दों में निहित अर्थ को जानने के लिए विद्वानों द्वारा शब्दकोशों की रचना की गई । भाषा व्यवहार में अर्थ का आधार या आश्रय शब्द है, ऐसा मानते हुए अति प्राचीन काल से ही अर्थों को जीवित व सुरक्षित रखने के लिए पदों के सङ्कलन की परम्परा रही है तथा शब्दों के इस सङ्कलन को 'निघण्टु' कहा जाता है । 'निघण्टु' में सङ्कलित अर्थ निमित्तिक पदों के व्याख्यान से पूर्व उनका वर्गीकरण व उनसे सम्बन्धित अन्य विषयों का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है । अतः महर्षि यास्क ने 'निघण्टु' में सङ्कलित पदों का सीधे निर्वचन न करके अपने 'निरुक्तम्' नामक ग्रन्थ में द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद तक शब्द अर्थ से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन भी किया है, तथा वे इस क्रम में शब्दों के विभागों की भी चर्चा करते हैं ।

वस्तुतःपदविभाग करने के मुख्य रूप से दो दृष्टिकोण हैं –

(१) ऐतिहासिक दृष्टिकोण शब्द निर्माण के लिए स्थान व समय भी आधारभूत कारक होते हैं, ऐसा मानते हुए पदों का तत्सम, तद्भव, देशज, अपभ्रंश आदि जो विभाग किए जाते हैं, उन्हें ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार महर्षि यास्क ने दो वर्गों में विभाजित किया है –

क)- भाषिक ख)- नैगम ।

जैसा कि वे निरुक्तम् (२.२) में कहते हैं - *"अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः। क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः। उष्णम्। घृतमिति। अथापि*

प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यन्ते। ... विकारमस्यार्येषु भाषन्ते। शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु। "

(क)भाषिक भाषिक शब्दों के अन्तर्गत उन शब्दों का परिगणन किया जाता है जो सामान्य बोलचाल की भाषा में साधारण जनों द्वारा व्यवहृत किए जाते हैं ।

(ख) नैगम नैगम उन पदों को कहा जाता है जो मात्र वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त होते हैं ।

इसके अतिरिक्त कई बार नैगम शब्दों के भाषिक तथा भाषिक पदों के नैगम पदों के रूप में व्यवहृत होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है । सामान्यतः वैदिक और लौकिक दोनों पद समान ही माने जाते हैं । उनमें अन्तर मात्र वैदिक और व्यवहार के स्तर पर ही अधिक दिखाई देता है ।[१]

(२) व्याकरणिक दृष्टिकोण व्याकरणिक दृष्टि से शब्द सम्पादन के अनेक आधार स्वीकृत हैं । यथा –

(क) प्रवृत्ति निमित्त लोक अथवा वेद में शब्दों का प्रचलन शब्दों की प्रवृत्ति कही जाती है, तथा उस अर्थ में प्रचलित होने के कारण को निमित्त कहा जाता है । इस प्रवृत्ति-निमित्त के आधार पर होने वाला वर्गीकरण इसके अन्तर्गत होता है । यथा –

(अ) आचार्य इन्द्र का मत है कि शब्द की प्रवृत्ति किसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए होती है । अतः अर्थबोधन के कारक के रूप में पद एक ही प्रकार का है।[२]

(ब) शब्द की प्रवृत्ति शब्द में अर्थ की दृष्टि से निहित जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा को प्रकट करने के लिए होती है । इस आधार पर शब्द चार प्रकार के हैं – जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द और यदृच्छा शब्द ।[३]

(ख) व्युत्पत्ति अर्थात् रचना के आधार पर प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना कर के प्रकृति को शब्द रचना का आधार मान कर पदविभाग करना इस वर्ग के अन्तर्गत आता है । जैसे –किसी

१- अणीयस्त्वाच्च शब्देन सञ्ज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम् । (निरुक्त १.२) ।

२- नैकं पदजातं यथाऽर्थः पदमैन्द्राणामिति । (निरुक्त दुर्गभाष्य १.१) ।

३- चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्जातिशब्दा, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः । (महाभाष्य १.१.२) ।

धातु से तिङ् प्रत्यय लगने पर बनने वाला रूप तिङन्त तथा कृत प्रत्यय लगने पर बनने वाला रूप कृदन्त कहलाता है । नाम शब्द तद्धित प्रत्यय से युक्त होकर तद्धित या तद्धितान्त कहलाते हैं । इसी प्रकार कई पदों का समास करके सामासिक पद भी बनते हैं ।[1]

<u>(ग) उच्चारण या व्यवहारगत भिन्नता के आधार पर</u> व्यवहार में शब्द दो प्रकार से प्रयुक्त होते हैं-

<u>(अ) दृष्टव्यय</u> दृष्टव्यय वे शब्द होते हैं जिनका प्रयोग के आधार पर रूप परिवर्तित हो जाता है ।[2] जैसे – लड़का जाता है । लड़की जाती है । लड़के जाते हैं । लड़कियाँ जाती हैं । 'जाता' शब्द लिङ्ग और वचन के आधार पर बदल जाता है । इसी प्रकार विभक्ति व काल के अनुसार भी दृष्टव्यय शब्दों के रूप परिवर्तित हो जाते हैं । ये शब्द दो प्रकार के हैं –

सुबन्त एवं तिङन्त ।[3]

<u>(ब) अव्यय</u> **"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।**

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।"

गोपथ ब्राह्मण १.१.२६ में वर्णित इस लक्षण से स्पष्ट ही है कि लिङ्ग, विभक्ति तथा वचन के परिवर्तित होने पर भी जिन पदों का रूप परिवर्तित नहीं होता, ऐसे पदों को अव्यय कहते हैं । जैसे – उप, अनु, परि, यथा आदि इसी प्रकार के शब्दों में गिने जाते हैं ।

महर्षि पाणिनि ने अपने शास्त्र की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए अव्ययों को भी दृष्टव्यय शब्दों के एक भेद सुबन्त के अन्तर्गत माना है, जिनके सुबादि प्रत्ययों का लोप कर दिया गया है।[4] महर्षि यास्क उपर्युक्त सभी आधारों से भली भाँति परिचित थे, तथापि उन्होंने प्रवृत्ति निमित्त और प्रयोग को ही पदविभाग का आधार निश्चित किया है । जाति, गुण और यदृच्छा वाचक शब्दों में सत्व की प्रधानता ही प्रवृत्तिनिमित्त है । अतः इन तीनों प्रकार के शब्दों को उन्होंने

१- तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम् । (शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य १.२७) ।

२- दृष्टव्ययन्तु भवति । (निरुक्त १.८,५.२३) ।

३- सुप्तिङन्तं पदम् ।(अष्टा० १.४.१४) ।

४- अव्ययादाप्सुपः ।(अष्टा० २.४.८२) ।

नामवर्ग में माना है । सत्व के लिए प्रयुक्त शब्द नाम ही है ।[1] क्रिया को प्रकट करने वाले शब्दों को 'आख्यात' नाम दिया है तथा इनमें भाव की प्रधानता बताई है ।[2] अव्यय पदों में से नाम और आख्यात से संयुक्त होकर अर्थबोध कराने वाले शब्दों को उपसर्ग तथा शेष अव्यय पदों में से विविध अभिप्रायों की पूर्ति हेतु भिन्न-भिन्न वाक्यों में यत्र-तत्र प्रयुक्त होने वाले पदों को निपात की सञ्ज्ञा से अभिहित किया है । इस प्रकार महर्षि यास्क की दृष्टि में मुख्य रूप से पदों के दो विभाग हैं –दृष्टव्यय तथा अव्यय, तथा इन्हीं को उन्होंने गौण रूप से चार भागों में विभक्त कर नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात कहा है ।[3]

'नामाख्यातेचोपसर्गनिपाताश्च' कहकर पदों के चार विभाग बता देने के अनन्तर महर्षि यास्क ने उनके लक्षण भी बताए हैं । पदविभाग के क्रम में महर्षि यास्क ने 'नाम' को सबसे पहले कहा है, परन्तु लक्षण बताते हुए वे सर्वप्रथम आख्यात का लक्षण स्पष्ट करते हैं । आचार्य दुर्ग ने इसका कारण *'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि'* इस सूत्र वाक्य को मानते हुए आख्यात को 'नाम' का कारक स्वीकार करते हुए नाम से पूर्व आख्यात के लक्षण किए जाने की सम्भावना व्यक्त की है । आधुनिक विद्वानों में अग्रगण्य डॉ० लक्ष्मण सरूप इसका कोई कारण विशेष मानने के पक्षधर नहीं है और उनके मतानुसार यह क्रम व्यतिरेक अकारण ही है । जबकि श्री राजवाड़े का कथन है कि एक आख्यात से कई नामों की निष्पत्ति सम्भव है अतः वाक्य में आख्यात पद सर्वाधिक प्रधान होता है, ऐसा विचारकर ही महर्षि यास्क ने आख्यात का लक्षण नाम से पूर्व स्पष्ट किया है ।[4]

इसके अतिरिक्त विद्वानों द्वारा एक तर्क और माना जाता है कि वस्तुतः वर्णानुक्रम में अल्पाक्षर वाले पद की गणना पहले की जाती है जैसा कि ऋक्, यजु, साम और अथर्व की गणना कालक्रम अथवा आकार की दृष्टि से नहीं अपितु वर्णानुक्रम के इसी नियम के अनुसार

१- सत्वप्रधानानि नामानि । (निरुक्त १.१) ।

२- भावप्रधानमाख्यातम् ।

३- तद् यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातेचोपसर्गनिपाताश्च। (निरुक्त १.३) ।

४- निरुक्तमीमांसा पृ० ११४ ।

की जाती है । अतः 'नाम' शब्द 'आख्यात' से अल्पाक्षर वाला होने के कारण पहले गिन लिया गया होगा परन्तु लक्षण स्पष्टीकरण के अवसर पर आख्यात को प्रधान मानते हुए सर्वप्रथम आख्यात की व्याख्या की गई होगी । परन्तु निपात को अन्त में रखते से इस सम्भावना का भी परिहार हो जाता है । अतः इस विषय में आचार्य दुर्ग का मत ही ग्राह्य हो सकता है ।

<u>आख्यात</u> आख्यात का लक्षण देते हुए महर्षि यास्क कहते हैं –*'भावप्रधानमाख्यातम्'* [१]। अर्थात् जो भाव प्रधान हो या जिसमें भाव की प्रधानता हो, आख्यात कहलाता है । प्रश्न उठता है –भाव क्या है ? महर्षि यास्क कहते हैं –*'भवतीति भावस्य'* [२] अर्थात् होता है, यही भाव का लक्षण है । कहने का तात्पर्य यह है कि जो क्रियावाची है वही आख्यात नाम से निरुक्त में व्यवहृत है । व्याकरणिक परम्परा का अनुसरण करते हुए यदि आख्यात पद की व्युत्पत्ति का अवलोकन करें तो 'आ+√ख्या+क्त' से यह रूप निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ हुआ पूरी तरह कहना। वाक्य में कारक विशेषण अव्यय और क्रियापद आदि का संयोग होता है। किन्तु इनमें क्रियापद वाक्यार्थ का बोध कराने के कारण प्रधान होता है। वाक्य में क्रियापद की अनुपस्थिति में अर्थ भली-भाँति प्रकट नहीं होता; जबकि क्रियापद से युक्त होते ही वाक्यार्थ स्पष्ट हो जाता है । अतः 'शतपथ ब्राह्मण' में महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रयुक्त 'आतमां ख्यायते' [३] इस वाक्यांश को आख्यात का लक्षण मान लिया जाय तो क्रियापद ही वह शब्द है जिससे वाक्यार्थ का बोध तो होता ही है साथ ही वाक्य के अन्य अङ्गीभूत तत्त्व यथा कारक इत्यादि अन्वित भी होते हैं ।

यद्यपि बहुत से विद्वानों का मत है कि आख्यात का अर्थ धातुपद है न कि क्रियापद । जैसे कि श्री क्षितीश चन्द्र चाटुर्ज्या जी का मत है कि महर्षि यास्क ने या तो इस शब्द का प्रयोग धातु के अर्थ में किया है या तो धातु और उसके तिङन्त पद के रूप में । वे अपने मत के समर्थन में महाभाष्य में शाकटायन के नामोल्लेख के साथ आख्यातज के स्थान पर उसकी व्याख्या के

१- निरुक्त १.१ ।

२- निरुक्त १.१ ।

३- तस्माद्यत्रैतानि सर्व्वाणि सह क्रियन्ते, महदेवोक्थमातमां ख्यायतऽआत्मा हि महदुक्थम् । (श० ब्रा० १.२) ।

लिए धातुज शब्द के प्रयोग को प्रस्तुत करते हैं । वस्तुतः निरुक्त में कहे गए –'*तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च*।'[१] की व्याख्या करते हुए महाभाष्य में – '*नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्*'[२] कहा गया है । किन्तु श्री चाटुर्ज्या जी के मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता क्योंकि महर्षि यास्क द्वारा उदाहरण के रूप में जो आगे '*आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठतीति*'[३] आदि पद कहे गए हैं, वे क्रियापद हैं न कि धातुमात्र। अतः यदि महर्षि यास्क को आख्यात से धातु पद अभिप्रेत होता तो वे उदाहरण में सीधे-सीधे धातुओं का निर्देश करते न कि उनके तिङन्त रूपों का। अतः शाकटायन और शाकपूणि के अनुसार नाम आख्यातज हैं धातुज नहीं, ऐसा समझना चाहिए । शाकटायन के कथन का प्रधान अर्थ यह है कि महर्षि यास्क नामपद अर्थात् वस्तु की संज्ञा को उस वस्तु की किसी क्रिया के कारण पड़ा मानते हैं जैसे '*अरुषीरारोचनात्*' [४]। '*पाजः पालनात्*' [५]। '*प्रथनात्पृथिवी*' [६] इत्यादि। व्याकरण में चूँकि क्रिया धातु से ही कही जाती है, अतः वैयाकरण आचार्य पतञ्जलि ने अपने शास्त्र को दृष्टि में रखकर नाम धातुज हैं; यह कह कर आख्यातज का अभिप्राय स्पष्ट किया है । इससे आख्यात शब्द मात्र धातु का पर्याय नहीं माना जा सकता । जैसा कि लोक में भी दिखाई देता है – गर अर्थात् विष के साथ उत्पन्न होने के कारण सगर या सभी शास्त्रों में पारंगत होने की इच्छा से गमनार्थक √लघि धातु से रघु निष्पन्न कर रघु नामकरण आदि व्यक्ति के गुण, कर्म या भाव के दृष्टिगत करके ही किए जाते हैं न कि धातु के आधार पर ।

महर्षि यास्क ने भी पृथिवी[७] का निर्वचन करते हुए पृथिवी का नाम पड़ने का आधार √प्रथ्

१– निरुक्त १.१२ ।

२ –महाभाष्य ३.३.१ वा० १।

३- निरुक्त १.१ ।

४ - निरुक्त १२.७ ।

५- निरुक्त ६.१२ ।

६- निरुक्त १.१३ ।

७- निरुक्त १.१४ ।

धातु को नहीं बतलाया अपितु प्रथन क्रिया रूप व्यापार को ही अभिप्रेत माना है । इससे यह सङ्केत मिलता है कि महर्षि यास्क भी नामकरण का आधार क्रिया को मानते हैं ।

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं – हम देखते हैं कि एक ही कर्म करने वालों में भी कुछ का नाम उसके कारण पड़ता है, कुछ का नहीं; जैसे तक्षा, परिव्राजक, जीवन, भूमिज आदि ।[१] और कई बार बाद में होने वाले भाव अर्थात् क्रिया के कारण पहले उत्पन्न कुछ द्रव्यों के नाम पड़ जाते है, कुछ के नहीं ।[२] इसी प्रकार वे आगे समझाते हैं कि जब एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, तो जिन द्रव्यों की एक समान क्रिया होती है, उनके निर्वचन भी उस क्रिया के कारण समान ही होते हैं । यदि क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं, तो निर्वचन भी भिन्न-भिन्न ही करने चाहिए ।[३]

निर्ऋति (निरुक्त २.७) के निर्वचन के प्रसङ्ग में भिन्न-भिन्न क्रियाओं से भिन्न-भिन्न अर्थों में नाम पड़ जाते हैं –यह दुर्गाचार्य का कथन इसी आशय को पुष्ट करता है।

इसी प्रकार अग्नि के निर्वचन के प्रसङ्ग में शाकपूणि का यह कथन – *‘त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः’*[४] अर्थात् शाकपूणि के मतानुसार तीन आख्यातों से अग्नि का नाम पड़ा है । इसमें भी ‘इतात्’ (√इत् से), ‘अक्ताद् दग्धाद्वा’ (अञ्ज् या दह् से), ‘नीतात्’ (नी से) –ये भाव वाचक सञ्ज्ञाएँ धातु से नाम की निष्पत्ति को प्रधान रूप में न कहकर इन तीन क्रियाओं को ही अग्नि के नामकरण का आधार बताती हैं । इसीलिए दुर्गाचार्य का कथन है - *‘त्रयाणामाख्यातानामभिधेयाः क्रिया अत्र लक्ष्यन्ते । ता उपादाय हेतुत्वेनाग्निशब्द आत्मानं लभते।.... एता एतद्धातुवाच्याः क्रिया एष करोतीत्यग्निः ।’*

अतः आख्यातज का मुख्य अर्थ यही है कि यदि कोई शब्द किसी विशेष अर्थ में प्रसिद्ध होता है तो अर्थ की किसी विशेष क्रिया के कारण ही होता है । नामकरण की आधारभूत प्रेरणा

१,२ – निरुक्त १.१४ ।

३- तानि चेत्समानकर्माणि , समाननिर्वचनानि । नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि । निरुक्त २.७ ।

४- निरुक्त ७.१४ ।

क्रिया-विशेष से ही मिलती है । हाँ , उसकी सिद्धि में धातुपदों या धात्वंशों की सहायता अवश्य ग्रहण की जाती है।

महर्षि यास्क के परवर्ती विद्वानों के मतों पर विचार करें तो महावैयाकरण पाणिनि द्वारा गणपाठ[१] में प्रयुक्त आख्यातम् और आख्यातेन शब्दों के स्पष्टीकरण के प्रसङ्ग में दिए गए अश्नीत -पिबता, पचत-भृज्जता, खादत-मोदता, खादता-चमता, आहर-निवपा आदि समस्त शब्दों के अवयव शब्द तिङन्त पद ही प्रतीत होते हैं । अतः इस गणसूत्र में प्रयुक्त तिङन्त पदों के आधार पर सम्भावना की जा सकती है कि आचार्य पाणिनि को भी आख्यात का तात्पर्य तिङन्त पद ही अभिप्रेत था । वैयाकरण सम्प्रदाय में पाणिनि के पश्चात् सर्वाधिक प्रसिद्ध आचार्य कात्यायन ने भी अनेक स्थलों [२] पर तिङन्त पदों के लिए ही आख्यात शब्द का प्रयोग किया है ।

इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यों में अपने समय के मूर्धन्य आचार्य शौनक बृहद्देवता[३] और ऋक्प्रातिशाख्य[४] में, आचार्य जैमिनि पूर्वमीमांसा दर्शन[५] में, आचार्य चाणक्य अर्थशास्त्र[६] में, आचार्य भरत नाट्यशास्त्र [७] में, आलङ्कारिकशिरोमणि रुद्रट के काव्यालङ्कार (२.२) पर प्रख्यात टीकाकार नमिसाधु, सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन (१.१.२१) में आख्यात का प्रयोग तिङन्त पद के अर्थ में मानते तथा करते रहे हैं ।

इसलिए इस सारे प्रकरण का निष्कर्ष यही है कि आख्यात शब्द तिङन्त पद का पर्याय है, मात्र धातु अथवा अन्य प्रत्ययादि का नहीं ।

१- अष्टाध्यायी २.१.७२ मयूरव्यंसगादयश्च के गणपाठ में गणसूत्र आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये ।

२ –महाभाष्य १.२.३७ वार्तिक २,आकार आख्यायते परादिश्च, २.२.१ वा० ९ –आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम् ।

३– बृहद्देवता (१.३९,१.४४,२.९४,२.१२१,८.८५)

४- ऋक्प्रातिशाख्य "तदाख्यातं येन भावं सधातु" ।(१२.१९)

५– पूर्वमीमांसा दर्शन. (२.१४) ।

६ – अर्थशास्त्र (२.१०.२८) ।

७ – नाट्यशास्त्र (१५.२४) ।

नाम

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात में आख्यात का लक्षण बताने के बाद महर्षि यास्क नाम का लक्षण बताते हैं – *'सत्वप्रधानानि नामानि'*[1] अर्थात् जहाँ सत्व की प्रधानता दृष्टिगोचर हो उसे नाम कहते हैं । सत्व क्या है? महर्षि यास्क आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं –*'अदः इत् सत्वनामुपदेशः । गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।'*[2] अर्थात् सार्वनामिक पदों द्वारा जिसका उपदेश किया जा सके यथा गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्तिः इत्यादि सत्व कहे जाते हैं । इतना ही नहीं, उन्होंने द्रव्य रूप हुए भाव को भी सत्व की संज्ञा से अभिहित माना है ।[3]

<u>नामकरण का आधार</u> वाक्य में भाव की प्रधानता को देखते हुए महर्षि यास्क ने आख्यात का लक्षण नाम से पहले किया है और आख्यात को ही नामकरण का आधार भी माना है । जैसे – 'प्रथनात्पृथिवी', 'अरुषीरारोचनात्' इत्यादि ।

बृहद्देवता में नामकरण के आधार के विषय में विस्तृत चिन्तन किया गया है ।[4] बृहद्देवता के अनुसार[5] – नैरुक्त, पुराने विद्वान तथा मधुक, श्वेतकेतु और गालव नौ बातों को नामकरण का आधार मानते थे । वे नौ बातें इस प्रकार हैं-

- निवास ।
- कर्म अथवा क्रिया ।
- रूप ।
- मङ्गल ।
- बोली ।

---

१ - निरुक्त १.१ ।

२ - निरुक्त १.१ ।

३- मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति (निरुक्त १.१) ।

४- बृहद्देवता १.२३ ।

५- बृहद्देवता १.२४-२५ ।

- आशीष ।
- स्वेच्छा (यदृच्छा) ।
- आदत (उपवसन) ।
- अमुक माता या पिता का पुत्र होना, या उनके गोत्र में उत्पन्न होना ।[१]

बृहद्देवता में इनके उदाहरण स्वरूप कुछ भी नहीं कहा गया है किन्तु विभिन्न दृष्टान्तों के अनुसार ये उदाहरण हो सकते हैं –

१- निवास निवास अर्थात् रहने के स्थान के आधार पर भी नाम रख दिए जाते हैं । जैसे– शलातुर ग्राम के निवासी होने के कारण पाणिनि को शालातुरीय भी कहा जाता है । इसी तरह लोक में भी विशेषकर भाषाओं तथा बोलियों के लिए पञ्जाबी, मराठी आदि नाम उनके बोलने वाले लोगों के निवास स्थान के कारण ही पड़ा है ।

२- कर्म कर्म के आधार पर नामकरण का उदाहरण स्वयं महर्षि यास्क ने भी प्रस्तुत किया है । यथा– तक्षा, परिव्राजक, जीवन, भूमिज आदि । इसी प्रकार लोक में भी जो अध्यापन का कार्य करे वह अध्यापक, जो चिकित्सा करे चिकित्सक आदि नाम कार्य के आधार पर ही रखे गए हैं ।

३-रूप (गुण) जैसे श्याम वर्ण होने से श्याम, सुन्दर नेत्र से सुनयना, सुन्दर होने से मनोरमा लम्बी चोटी होने से लम्बचूडक, प्रथन रूप के कारण पृथिवी आदि नाम रूप को ध्यान में रख कर ही रखे जाते हैं ।

४-मङ्गल कल्याण की भावना से भी लोग देवी-देवताओं के नाम पर भी नामकरण करते हैं । यथा –लक्ष्मी, राधा, राम, गणेश, कृष्ण आदि ।

५-बोली भाषाविज्ञान में एक सिद्धान्त है –अनुकरण सिद्धान्त या बो-बो सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न पशु-पक्षियों का नामकरण उनकी ध्वनियों के आधार पर हुआ है । निरुक्त में महर्षि यास्क ने 'काक' का निर्वचन देते हुए '*काक इति शब्दानुकृतिः*' कहा है । इसका तात्पर्य

---

१ - बृहद्देवता १.२३-२५ ।

भी वही ध्वनित होता है जो आधुनिक समय में अनुकरण कहा जाता है ।

६-आशीष शुभकामना से भी नामकरण किए जाते हैं । यथा –बच्चे का नाम लक्ष्मी निवास, धनेश, कुबेर आदि उज्ज्वल भविष्य की शुभकामना से रखा जाता है । इसी प्रकार पराक्रम की कामना से रखे जाने वाले दुर्विजय, शौर्य, अदम्य आदि नाम इसके अन्य उदाहरण हैं ।

७-यदृच्छा स्वेच्छानुसार कुछ भी कहकर पुकारने लगना इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है । यथा - दुलार के वशीभूत होकर बहुत सी माताएँ अपने पुत्रों का नाम बाबू, लाला, लाल इत्यादि पुकारने लगतीं हैं जो कि आगे चलकर नाम के रूप में व्यवहृत होने लग जाते हैं । काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में डित्थ, डवित्थ जैसे यादृच्छिक नामों का उल्लेख है ।

८-उपवसन महर्षि यास्क ने निरुक्त में इसके सङ्केत दिये हैं । यथा –बिल्वादः (बेल खाने वाला एक पक्षी), सूदखोर आदि। इसी प्रकार कुटिलता युक्त स्वभाव के कारण कौटिल्य, बाँसुरी बजाने के कारण वेणुगोपाल या वंशीधर आदि नाम इसी श्रेणी में आते हैं ।

९-पुत्राधिकार या गोत्र यथा – अग्र का पुत्र होने से आग्रायण, शकट का पुत्र होने से शाकटायन, इतरा का पुत्र होने से ऐतरेय, कुन्ती का पुत्र होने से कौन्तेय आदि नाम पुत्राधिकार के आधार पर किए जाते हैं ।

उपर्युक्त बातों के अनन्तर आचार्य शौनक का कथन है –

चतुर्भ्य इति तत्राहु यस्किगार्ग्यरथीतराः ।

आशिषोऽथार्थवैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च ।।१.२६।।[१]

अर्थात् महर्षि यास्क, गार्ग्य और रथीतर उपर्युक्त नौ में से मात्र चार १- आशीष, २- अर्थ वैरूप्य (अर्थों अर्थात् विषयों की विभिन्नता), ३- बोली, ४- कर्म को ही नामकरण का आधार मानते हैं । यथा –

१-आशीष *कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः । कृतवान्वाशीर्नामकः।*[२]

१– बृहद्देवता पृ० ८ ।

२- निरुक्त ५.२२।

२- वाक् वाक् या शब्दानुकृति के उदाहरण में काक शब्द का निर्वचन उद्धृत किया जा सकता है। यथा– *काक इति शब्दानुकृतिः, तदिदं शकुनिषु बहुलम् ।*[१]

३-कर्म महर्षि यास्क *'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि'* इस मत के प्रबल समर्थक हैं । अतः उनके निर्वचनों में कर्म की प्रधानता सर्वत्र दिखाई देती है । यास्क का निरुक्त १.१३ में कर्मनामिक शब्द का प्रयोग इसी की पुष्टि करता है ।

४- अर्थवैरूप्य एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न प्रकार निर्वचन करना अर्थ वैरूप्य कहलाता है । जैसे - महर्षि यास्क ने 'कच्छ' शब्द के दो अर्थ बताए हैं – १- कछुए का मुँह, २- नदी का किनारा । इन दोनों अर्थों के लिए उन्होंने दो भिन्न-भिन्न निर्वचन प्रस्तुत किए हैं । जैसे- कछुए के मुँह के लिए वे कहते हैं – *'कच्छं पाति, कच्छेन पातीति वा। कच्छेन पिबतीति वा । कच्छः = खच्छः = खच्छदः।'* [२] इसी प्रकार नदी के किनारे के लिए कहते है- *'अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव कम् उदकम् । तेन छाद्यते ।'* [३] महर्षि यास्क के द्वारा इस प्रकार के अनेक निर्वचन प्रस्तुत किए गए हैं ।

इसके बाद आचार्य शौनक अपना मत प्रस्तुत करते हुए सभी नामों को कर्म अथवा क्रिया आधारित ही मानते हैं । उनके मतानुसार उपर्युक्त समस्त आधार कर्म में ही अन्तर्निहित हो जाते हैं । शौनक के इस कथन से विदित होता है कि बहुत प्राचीन काल में वस्तुओं के नामकरण के नौ आधार माने जाते थे, कालान्तर में ये चार हुए तथा अन्ततः कर्म के आधार पर ही नाम पड़ता है; यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ । नाम पड़ने के लिए क्रिया का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शब्द के साथ हो यह भी आवश्यक नहीं माना जाता । नामकरण के समस्त आधार वस्तुतः मानसिक हैं । तात्पर्य, यह नाम रखने वाले की मानसिक स्थिति या अपेक्षाओं को ही व्यक्त करते हैं । नाम की व्युत्पत्ति किसी धातु से हो ही यह इस सिद्धान्त में बिल्कुल अपेक्षित नहीं है ।

आचार्य पाणिनि के ग्रन्थ में नाम के लिए 'प्रातिपदिक' का प्रयोग होता है । प्रातिपदिक दो

१- निरुक्त ३.१८ ।

२,३ - निरुक्त ४.१८ ।

प्रकार के होते हैं – व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न ।

१- व्युत्पन्न व्युत्पन्न शब्द वे होते हैं जिनकी व्याकरणिक सिद्धान्तों के अनुसार व्युत्पत्ति दी जा सके । अर्थात् वे कृत्, तद्धित या सामासिक में से किसी एक वृत्ति द्वारा निष्पन्न हों । नैरुक्तों के मतानुसार ये तीन प्रकार के हैं–

क- प्रत्यक्ष-वृत्ति वे शब्द, जो पूर्णतया व्याख्यात हैं । अर्थात् जिनकी व्युत्पत्ति प्रत्यक्षतया स्पष्ट हो ।

ख- परोक्ष-वृत्ति वे शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट न हो अपितु परोक्ष अर्थात् छुपी हुयी हो । जैसे – अश्व, गौ, पुरुष आदि ।

ग- अति परोक्ष-वृत्ति जिनमें प्रकृति प्रत्यय का ज्ञान अत्यन्त दुरूह हो जैसे निघण्टु ।

२- अव्युत्पन्न वे शब्द जो बिना किसी सार्थक व्युत्पत्ति के किसी अर्थ विशेष में रूढ़ हो जाते हैं जैसे काक, डित्थ इत्यादि।

आचार्य पाणिनि ने भी '*उणादयो बहुलम्*' कहकर और उणादि कोष की स्थापना करके सभी प्रकार के नामों को आख्यातज मानने के सिद्धान्त का ही समर्थन किया है ।

नैरुक्तों की परम्परा में और आगे बढ़ने पर निघण्टु भाष्यकार आचार्य देवराज यज्वा ने अपने निघण्टु भाष्य में अपने पूर्ववर्ती, महर्षि यास्क और पाणिनि, दोनों की ही परम्पराओं को समादृत किया है । यज्वा ने निघण्टुओं की व्याख्या करते हुए 'सभी नाम धातुज हैं' का प्रबल समर्थन करते हुए लगभग समस्त निघण्टुओं की धातु निर्देश करते हुए प्रकृति प्रत्ययपूर्वक व्युत्पत्तियाँ तो दी ही हैं; साथ ही अर्थ स्पष्टीकरण के लिए यथासम्भव निर्वचन और उनके उदाहरण हेतु निगम प्रस्तुत करने का भी स्तुत्य प्रयास किया है ।

उपसर्ग उप+√सृज् से निष्पन्न उपसर्ग शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में आज प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में हुआ है । ऋग्वेद संहिता में उपसृजन्ति, उपसृजथः, उपससृजे, उपासृक्षि, उपसर्जि, उपसृजा और उपसृजतम् इन सात तिङन्त पदों में उप+√सृज् का प्रयोग हुआ है ।

ऋग्वेद संहिता में 'उप' का अर्थ समीप और '√सृज्' की अर्थ रचना, बनाना प्रयोग हुआ है । इन दोनों अर्थों को मिलाकर समीप रचना > संयुक्त करना (ऋ० सं० १.१८०.६, ८.३५.२०, ९.६९.१), रचना (२.१.१६, २.३५.१, ७.१८.४, ८.२७.११), प्रेरणा देना (६.२०.८) – इन तीन अर्थों में उपर्युक्त पदों का ८ बार प्रयोग हुआ है ।[१] अन्य संहिताओं में तिङन्त और कृदन्त पदों के रूप में डालना (निक्षेप)[२] और संयुक्त करना[३] अर्थों में उप+√सृज् का प्रयोग हुआ है ।

इसके अतिरिक्त भी बहुत स्थानों में यह अन्य कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु भाषाशास्त्रीय अर्थ में सर्वप्रथम उपसर्ग निरुक्त में ही ब्राह्मणग्रन्थों के दाय के रूप में संकलित है।

<u>लक्षण</u> उपसर्ग क्या है? या उपसर्ग किसे कहा जाता है? इस विषय में महर्षि यास्क अपने पूर्ववर्ती दो विद्वानों शाकटायन एवं गार्ग्य के मत उद्धृत करते हैं–'*न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुः – इति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति ।', 'उच्चावचाः पदार्था भवन्ति –इति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम् ।'*[४] अर्थात् शाकटायन के अनुसार उपसर्ग वे शब्दांश हैं जिनका स्वयं कोई अर्थ नहीं होता किन्तु ये नाम और आख्यात के साथ युक्त होकर अर्थ विशेष के प्रकाशक होते हैं ।

आचार्य शाकटायन ने यहाँ दो बातें आवश्यक बताई हैं –

<u>क-</u> उपसर्गों का नाम और आख्यात पदों के साथ (अर्थकृत सम्बन्ध में)[५] ही प्रयोग होता है, स्वतन्त्र नहीं ।

<u>ख-</u> उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं है। इनके लगने से नाम और आख्यातों के अर्थ में ही विशेषता आ जाती है । अर्थात् नाम और आख्यातों के अर्थ में ही विशेषता ला देना, उनके अर्थ

१–ऋग्वेद १.१८०.६, २.१.१६, २.३५.१, ६.२०.८, ७.१८.४, ८.२७.११, ८.३५.२०, ९.६९.१।

२- माध्यन्दिन सं० ११.३८; काठक सं० ८.२; तैत्ति० सं० ५.१.३.१, ५.१.५.१; आदि।

३– मैत्रा० सं० १.८.८, ३.७.१०; पैप्पलाद सं० ५.३१.१; कपिष्ठल सं० ४.४।

४ –निरुक्त १.३ ।

५ - योगश्चार्थलक्षणः (प्रदीप) ।

द्योतित करना इनका कार्य है, तथा नाम और आख्यातों के साथ (अर्थतः सम्बन्ध रखते हुए) प्रयोग उसकी विधि है ।

गार्ग्य के मतानुसार उपसर्ग अनेक प्रकार के अर्थ वाले होते हैं । और ये नाम और आख्यात के अर्थ विकरण को स्पष्टता से कहते हैं । अर्थात् ये नाम और आख्यात के साथ जुड कर या तो उसके अर्थ को बढ़ा देते है या फिर न्यून कर देते हैं । ये अर्थ स्पष्टीकरण में भी सहायक होते हैं।

गार्ग्य के मतानुसार उपसर्ग नाम और आख्यात की तरह सर्वदा स्वतन्त्र अर्थवान् पद हैं; परन्तु उनका प्रयोग स्वतन्त्र अर्थात् अलग-अलग, नामाख्यात से निरपेक्ष रूप में नहीं होता । यह उनका स्वभाव है । अतः स्वतन्त्र अर्थ रखते हुए भी नामाख्यात के अर्थ को विकृत कर देना (बदल देना) इनका कार्य और नामाख्यातों से जुड कर प्रयुक्त होना इस कार्य की विधि है ।

सामान्य रूप से शाकटायन और गार्ग्य में उपसर्गों के कार्य में तो मतभेद है, परन्तु विधि के विषय में ऐक्य भाव ही प्रदर्शित होता है ।

अब यदि महर्षि यास्क से परवर्ती आचार्यों के मतों पर विचार करें तो आचार्य पाणिनि (१.४.५८-५९) के अनुसार प्रादिगण पठित बाईस शब्द यदि द्रव्यवाचक नहीं हैं तथा क्रिया के योग में हैं अर्थात् उनका क्रिया से अर्थकृत सम्बन्ध है[१] तो वे उपसर्ग कहलाते हैं । आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र की आवश्यकतानुसार इन्हें १-निपात, २-उपसर्ग, ३-गति, ४-कर्मप्रवचनीय; इन चार नामों से कहा है ।

सामान्यतया '*प्राग्रीश्वरान्निपाताः*' (अष्टा० १.४.५६) के अनुसार सभी प्रादि शब्द निपात कहलाते हैं ।[२] जबकि क्रिया के योग में प्रादि को उपसर्ग कहा गया है ।[३] केवल आचार्य पाणिनि

१- योगश्चार्थलक्षणः (प्रदीपः) ।

२- महाभाष्य १.४.५६ ।

३- प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे (अष्टाध्यायी १.४.५८) ।

ही नहीं, कात्यायन[१] और पतञ्जलि[२] ने भी क्रियायोगनिरपेक्ष प्रादियों हेतु उपसर्ग शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है ।

क्रिया के योग में प्रादि शब्द निपात और उपसर्ग होने के साथ-साथ गति भी कहलाते हैं ।[३] किन्तु इनके अलावा और भी बहुत शब्द गति हैं, जिन्हें यदि गार्ग्य या शाकटायन की कसौटी पर कसा जाय तो वे उपसर्ग का ही कार्य करने के कारण उपसर्ग कहला सकते हैं ।[४]

आचार्य पाणिनि द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने वाले लोगों में बृहद्देवताकार शौनक, वार्तिककार कात्यायन, महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा निरुक्त भाष्यकार दुर्गाचार्य प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं । आचार्य शौनक का कथन है– *'उपसर्गास्ति विज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः । विवेचयन्ति ते ह्यर्थं नामाख्यातविभक्तिषु ।'*[५]

अर्थात् प्र आदि बीस शब्द क्रिया के योग में उपसर्ग के रूप में जाने जाते हैं, तथा ये नाम, आख्यात पदों के विभक्ति प्रत्ययान्त रूपों के अर्थ में विशेषता ला देते हैं ।

आचार्य कात्यायन और पतञ्जलि के अनुसार प्रादि जिस क्रियावाचक शब्द से युक्त होते हैं, मात्र उस क्रियावाचक शब्द के प्रति ही वे उपसर्ग होते हैं, अन्यत्र नहीं । अतः इन आचार्यों के मत में भी *'प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गाः'* ही उपसर्गों का लक्षण है ।

आचार्य शाकटायन, गार्ग्य और उनका अनुसरण करने वाले यास्क तथा पाणिनि एवम्

१- महाभाष्य १.२.४४ पर वार्तिक ३, 'प्रयोजनं द्विगुप्राप्तापन्नालं पूर्वोपसर्गाः क्तार्थे'। महाभाष्य २.२.१८ पर वार्तिक ४ में उपसर्गाः क्तार्थे के स्थान में प्रादयः क्तार्थे कहा है । कैयट ने तो आदि शब्द को प्रकारार्थक मानकर प्रादियों में अलं को भी शामिल कर लिया है । द्र० महाभाष्य १.२.४४ पर प्रदीप और उद्योत ।

२- महाभाष्य २.१.१ पर वार्तिक ४, 'समोऽयमर्थशब्देन समासः । सं चोपसर्गः।' और इस पर उद्योत 'यद्यप्यनुपसर्गा अपि प्रादयः सन्ति, तथाऽपि प्रसिद्धत्वादेवमुक्तम्' । और महाभाष्य ३.१.१२ पर वार्तिक ५ से पूर्व 'इह काश्चित् प्रकृतयः सोपसर्गाः पठ्यन्ते -√अभिमनस्, √सुमनस् आदि ।

३- महाभाष्य १.४.५९ पर वार्तिक ३, 'यस्मिन्नेव विशेषं गत्युपसर्गकरमप्रवचनीयसञ्ज्ञास्तस्मिन्नेव विशेषे निपातसञ्ज्ञा स्यात्।' और १.४.५६ पर वार्तिक १ ।

४- अष्टाध्यायी १.४.६० से ७९ तक । इनमें से ऊरी, उररी आदि बहुत से ऐसे शब्द हैं जो प्रादि से मिलते जुलते हैं ।

५ - बृहद्देवता २.९४ ।

उनके अनुगामी आचार्यों में एक बात पर सहमति है कि किसी शब्द के योग से ही शब्द का सम्पूर्ण अर्थावगम होता है । इसी प्रकार के विचार कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी आचार्य कौटिल्य[१] तथा नाट्य शास्त्र में आचार्य भरत[२] ने भी व्यक्त किए हैं । किन्तु यह योग किन शब्दों के साथ होना चाहिए इस विषय में आचार्यों में मतभेद हैं । शाकटायन, गार्ग्य और नैरुक्तों की परम्परा के अनुसार नाम या आख्यात के साथ युक्त होकर प्रयुक्त होने वाले शब्द उपसर्ग कहे जाएंगे जबकि पाणिनीय परम्परा का अनुगमन करने वाले विद्वानों के मतानुसार मात्र क्रियावाची अर्थात् आख्यात पदों के साथ प्रयुक्त होने वाले शब्द ही उपसर्गों की श्रेणी में गिने जाएंगे । इतना ही नहीं इनके मतानुसार क्रिया से भिन्न सत्व अर्थ से योग होने पर तो उपसर्गत्व ही नष्ट हो जाता है ।[३] ऐसी स्थिति में प्र आदि निपात ही रहते हैं, अथवा कर्मप्रवचनीय ; किन्तु उपसर्ग और गति नहीं होते हैं ।

वैयाकरण देवराज यज्वा का मूल प्रयोजन महर्षि यास्क द्वारा अनिरुक्त छोड़ दिए गए निघण्टुपदों की व्याख्या और यथासम्भव निर्वचन देना ही रहा है। अतः उन्होंने उन विषयों पर कुछ भी कहना पिष्टपेषण मात्र जानकर छोड़ दिया है, जिनकी चर्चा महर्षि यास्क विस्तार से निरुक्त में कर चुके हैं । शब्दों के वर्गीकरण और उनकी व्याख्या के विषय में यज्वा ने भले ही कुछ नहीं कहा है किन्तु उनके ग्रन्थ के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि व्याकरणिक सन्दर्भों में वह पाणिनीय परम्परा के अनुगामी हैं ।

अतः इस विवेचन का निष्कर्ष यही है कि प्र आदि शब्द जब किसी अन्य शब्द के साथ जुड़ कर उसके अर्थ में कोई विशिष्टता उत्पन्न कर देते हैं तो उपसर्ग कहे जाते हैं ।

१- क्रियाविशेषणकाः प्रादयः उपसर्गाः (कौटिलीय अर्थशास्त्र १५/१८) ।

२- प्रातिपदिकार्थयुक्तान् धात्वर्थानुपसृजन्ति ये स्वार्थे । उपसर्गा ह्युद्दिष्टास्तस्मात् संस्कारतस्तस्मिन् ।।(नाट्य शास्त्रम् १५.२७) ।

३- महाभाष्य १.४.६० पर वार्तिक ६ पर प्रदीप, 'क्रियाशब्दस्याप्रयोगादुपसर्गत्वाभावः ।'

उपसर्गों की संख्या

महर्षि यास्क ने 'उपसर्ग स्वयं में भी सार्थक होते हैं' –इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अर्थ सहित निम्नलिखित बीस उपसर्ग गिनाए हैं –

आ इत्यर्वागर्थे । (आ) ।

प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । (प्र, परा) ।

अभीत्याभिमुख्यम् ।(अभि) ।

प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । (प्रति) ।

अति सु इत्यभिपूजितार्थे । (अति, सु) ।

निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम् । (निर्, दुर्)।

न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ ।(नि, अव) ।

उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम् । (उत्) ।

समित्येकीभावम् । (सम्) ।

व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् (वि, अप) ।

अन्विति सादृश्यापरभावम् । (अनु) ।

अपीति संसर्गम् । (अपि) ।

उपेत्युपजनम् । (उप)।

परीति सर्वतोभावम् । (परि) ।

अधीत्युपरिभावम् । ऐश्वर्ये वा । (अधि) ।[१]

ऋक्प्रातिशाख्य में प्र, अधि, आ, परा, निः, दुः, अनु, वि, उप, अप, सम्, परि, प्रति, नि,

---

१– निरुक्त १.३ ।

अति, अधि, सु, उत् , अव और अपि — इन बीस को उपसर्ग कहा गया है और इन्हें नाम और आख्यात दोनों के साथ प्रयोज्य माना गया है ।[१] किन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अधि, अभि, अव, आ, नि, परि, प्र, प्रति और वि[२] इन दस को और एक 'अप' को मिलाकर कुल ग्यारह को ही उपसर्ग माना गया है । शेष को सम्भवतः निपात मात्र ही समझा गया हो।

महर्षि यास्क के उपसर्गों के प्रकरण में अर्थ सहित कुल बीस पदों का विवरण दिया है । परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि उपसर्ग वस्तुतः हैं कितने; अर्थात् उन्होंने उपसर्गों की संख्या का निर्धारण नहीं किया है । अतः यहाँ परिगणित नहीं होने पर भी अन्यत्र 'अच्छ', 'श्रत्' और 'अन्तर्' इन पदों को भी महर्षि यास्क ने उपसर्ग के समान ही व्यवहृत किया है ।[३] कदाचित् अत्यल्प प्रयोग होने के कारण इन्हें मुख्य सूची में परिगणित न किया गया हो, ऐसा भी हो सकता है ।

बृहद्देवताकार आचार्य शौनक[४] और कात्यायन के अनुसार भी उपसर्ग सङ्ख्या में बीस ही हैं और महर्षि यास्क के द्वारा गिनाए गए उपसर्ग ही यहाँ पर भी गिनाए गए हैं । आचार्य शौनक के निज ज्ञान के अनुसार शाकटायन ने इन बीस के अतिरिक्त 'अच्छ', 'श्रत्' और 'अन्तर्' को क्रिया के योग में अर्थात् आख्यात या धातुज नामों से योग में उपसर्ग माना है ।[५] इससे प्रतीत होता है कि महर्षि यास्क और उससे पूर्ववर्ती आचार्य शाकटायन कुल तेईस उपसर्ग मानते थे । आचार्य पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में बाईस उपसर्गों को स्वीकार किया है ।[६] किन्तु निर् और निस् ,

१ – प्राभ्या परा निर्दुरनु व्युपाप सं परि प्रति न्यत्यधि सूदवापि ।उपसर्गा विंशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम्। (ऋक्प्रातिशाख्य १२/२०) ।

२ –आप्रावापोपाभ्यधिपरिप्रतिविनीत्युपसर्गाः । (तैत्तिरीय प्रातिशाख्य) ।

३– निरुक्त २.२ में अन्तर्धातु शब्द में अन्तर् ; नि० २.२५ में मन्त्रगत अच्छ की अभि से व्याख्या; ९.३० में श्रद्धा का श्रद्धान से व्याख्या ।

४ –उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः । (बृहद्देवता २.९४) ।

५- अच्छ श्रदन्तरित्येतानाचार्यः शाकटायनः । उपसर्गान् क्रियायोगान्मेने ते तु त्रयोऽधिकाः। (बृहद्देवता २.९५) ।

६– अष्टाध्यायी १.५.५४ प्रादयः पर गणपाठ।

दुर् और दुस् में प्रयोग के स्तर पर सन्धि कारण रूप मात्र का भेद है । अतः इनको अव और व अपि और पि की भाँति भिन्न-भिन्न नहीं माना जा सकता है ।[1] अतः पाणिनि के मतानुसार भी उपसर्ग बीस ही हैं ।

वार्तिककार कात्यायन ने कुछ विशेष परिस्थितियों में 'मरुत्', 'श्रत्' और 'अन्तर्' को भी उपसर्ग कहा है,[2] जैसा कि पहले से ही विदित है कि 'श्रत्' और 'अन्तर्' को तो शाकटायन और यास्क भी उपसर्ग मानते हैं किन्तु 'मरुत्' को उपसर्ग मानना सम्भव नहीं प्रतीत होता । कात्यायनोक्त मरुत्त (एक प्राचीन नाम) को छोड़ कर 'मरुत्' का इस रूप में प्रयोग अन्यत्र नहीं है । मरुत्त में भी मरुत् उपसर्ग है ऐसा भी शुद्धतः पारिभाषिक मात्र है ।[3] वस्तुतः मरुत् देवताविशेषवाची सञ्ज्ञा शब्द है, तथा 'मरुत्त' शब्द में भी वही है ।[4] यदि मरुत् को उपसर्ग की श्रेणी से पृथक् कर दिया जाए तो कात्यायन के अनुसार भी उपसर्ग सङ्ख्या में बाईस ही हैं ।

उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः उपसर्ग की तरह प्रयोग में आने वाले शब्दों की सङ्ख्या कम से कम सैंतालीस (तेईस यास्कोक्त, सत्रह पाणिन्युक्त गति और सात अन्य) अवश्य हैं ।

उपर्युक्त उपसर्गों में से बहुत से तो नाना रूपों में प्रयुक्त होते हैं । इन्हे तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है–

<u>क-</u> एक तो वे जो प्रयोग में घिसकर छोटे (संक्षिप्त) हो गए हैं, जैसे–अपि>पि, अव>व ।[5] अपिहित (मूँदा हुआ, ढका हुआ) के स्थान पर उसी अर्थ में प्रयुक्त पिहित (अपि=पि) । इसी प्रकार पिधान >पिहाण, अवगाहन > वगाहन आदि।

<u>ख-</u> कुछ ऐसे उपसर्ग जो प्रयोग में विस्तृत रूप वाले हो जाते हैं जैसे – अ>अन् =अनभिज्ञ,

---

१ –द्र० वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, अव्यय प्रकरण, वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।

२- काशिका १.४.५९ और ६५ पर वार्तिक ।

३- मरुत् की उपसर्ग सञ्ज्ञा होने से मरुद्+√दा+क्त में अन्य उपसर्गात (अष्टा० ७.४.४७) ।

४- महाभाष्य ५.२.१२२ वा० १०, पर्वमरुद्भ्यां तप् ।

५- सिद्धान्त कौमुदी, अव्यय प्रकरण में भागुरि का मत ।

अनर्थ। इसी प्रकार सम्>समी=सम्यक्, समीचीन । अच्छ>अच्छा । प्रति>प्रती = प्रतीकार आदि ।

संस्कृत में 'अन्' उपसर्ग 'अच्' वर्ण से पूर्व ही प्रयुक्त होता है।[१] किन्तु आजकल यह नियम भाषा व्यवहार में शिथिल होता जा रहा है । जैसे – अनभल, अनगिनत आदि ऐसे उदाहरण हैं जिसमें 'अन्' का प्रयोग 'अन' के रूप में हल् वर्णों के साथ प्रयुक्त हुआ है ।

<u>ग-</u> इस श्रेणी में उन उपसर्गों की गणना की जा सकती है जो सन्धि के नियमों के अनुसार रूप परिवर्तित कर लेते हैं । यथा - निर्, निस् या दुर् , दुस् जैसे रेफान्त या सकारान्त उपसर्ग सन्धि के कारण रेफान्त, सकारान्त, शकारान्त और षकारान्त रूपों में प्रयुक्त होते हैं , जैसे – निरर्थक, निस्तार, निश्चल, निष्कर्म, दुर्गम, दुस्तर, दुश्चरित्र, दुष्कर आदि ।

<u>उपसर्गार्थ : मतभेद</u> उपसर्ग स्वयं में सार्थक हैं, अथवा नहीं इस विषय को लेकर विद्वानों में परस्पर मतभेद रहा है । महर्षि यास्क द्वारा अर्थ सहित उपसर्गों का नामोल्लेख करने से यह पता चलता है कि महर्षि यास्क उपसर्गों को क्रिया के सम्बन्ध में ही सार्थक मानते हैं। किन्तु एक सम्प्रदाय ऐसा भी है जिसका मत है कि जिस प्रकार नाम और आख्यात पदों का अपना वाच्यार्थ होता है, वैसे उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं होता है । ये नामों और आख्यातों के ही अर्थ को कुछ विशिष्ट बनाकर द्योतित कर देते हैं । यह सम्प्रदाय द्योतकतापक्ष कहलाता है। दूसरे सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि उपसर्गों का अपना वाच्यार्थ होता है । यह सम्प्रदाय वाचकतापक्ष कहलाता है ।

इन दोनों सम्प्रदायों का आरम्भ कब से हुआ इस विषय में कुछ भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण के रूप में महर्षि यास्क के निरुक्त १.३ में शाकटायन और गार्ग्य के नाम हमें प्राप्त होते हैं । महर्षि यास्क द्वारा दिए गए उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि आचार्य शाकटायन द्योतकतापक्ष के उद्भावक आचार्य हैं । प्रातिशाख्यों में भी इसी पक्ष को

१- अष्टाध्यायी ६.३.७४ तस्मान्नुँडचि ।

प्रश्रय दिया गया है। परवर्ती वैयाकरणों में इस पक्ष को मानने वाले आचार्यों में आचार्य भर्तृहरि[1] कैयट और नागेश[2] के नाम प्रमुख हैं। महर्षि यास्क ने दूसरे (वाचकता) पक्ष के समुपस्थापक के रूप में गार्ग्य का नाम देकर उनका मत ही अपने उत्तरपक्ष के रूप मे उद्धृत किया है ।

आचार्य पाणिनि ने स्पष्ट रूप से इस विषय में कुछ नहीं कहा है किन्तु उन्होंने उपसर्गों का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, उससे लगता है कि वे मध्यमार्गी थे। उन्होंने अष्टाध्यायी में (१.४.८४–८९) में कर्मप्रवचनीय के विभिन्न अर्थ बताए हैं । विशुद्ध उपसर्गों का भी अर्थ उन्हें अभिप्रेत्य था, ऐसा अन्वय-व्यतिरेक से अष्टाध्यायी से सूचित होता है ।[3] कुछ क्रियाओं के साथ उनका अपना अर्थ गौण पड़ जाता है तथा उन उपसर्गों एवम् उन क्रियाओं के स्वार्थ से भिन्न कोई अन्य अर्थ ही आ जाता है जो वाच्यार्थ नहीं होता है ।[4]

इससे ऐसा भासित होता है कि उन्हें दोनों ही मत आवश्यकतानुसार स्वीकार्य थे। वे किसी एक के सहारे आश्रित नहीं रहना चाहते थे ।

महर्षि यास्क और आचार्य पाणिनि के ही निकटवर्ती (कालक्रमानुसार) आचार्यों में शौनक और कात्यायन ने उपसर्ग को आख्यात में विशेषता ला देने वाला कहा है ।[5] उपसर्ग से युक्त होने पर क्रिया में विशेषता तो उपसर्ग के वाचक और द्योतक होने अर्थात् दोनों ही परिस्थितियों में आ सकती है कारण यह कि उपसर्ग का प्रयोजन ही अर्थ में विशेषता लाना है

१- वाक्यपदीयम् २.१.६५ से २०६ ।

२- महाभाष्य १.३.१, वा० ७ एवं १.२.४५ वा० १२ पर प्रदीप और उद्योत ।

३- अष्टाध्यायी १.३.२४ उदोऽनूर्ध्वकर्मणि से सिद्ध होता है कि उत् का ऊर्ध्वक में प्रसिद्ध अर्थ था । १.३.४२ प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् से सिद्ध होता है कि प्र और उप अनेकार्थक हैं । दोनों के कुछ अर्थ मिलते-जुलते हैं । कुछ अलग हैं । माधवभट्ट के मत में भी पाणिनि उपसर्गों की अर्थज्ञता स्वीकार करते हैं – पाणिनिश्चाह भगवानर्थानेषाम्ब .... स्तथा । उदाहरणमेकेषां बाहुल्यान्न प्रदर्शितम् । (ऋग्वेदानुक्रमणी ३.७.१६) ।

४- अष्टाध्यायी १.३.२०-५९ (२४वें व २५वें सूत्र को छोडकर) ।

५-१- ऋक्प्रातिशाख्य १२.१५ और शुक्ल यजु० प्रातिशाख्य ८.४६ 'क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्' । और बृहद्देवता २.९४ – 'विवेचयन्ति ते ह्यर्थं मानाख्यातविभक्तिषु '।

और यूँ भी जब दो अर्थ एकत्र होंगे तो अर्थगत चमत्कार तो उत्पन्न होगा ही । किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उपसर्ग स्वयं भी सार्थक हैं, अथवा मात्र आख्यात या नाम के साथ ही अर्थ द्योतक हैं । सौभाग्यवश आचार्य शौनक ने इस विषय में एक निर्णायक सन्दर्भ रख छोड़ा है । उन्होंने मात्र यही नहीं कहा कि उपसर्ग नाम आख्यात और विभक्तियों में अर्थगत विशेषता लाते हैं, बल्कि 'ऋक्प्रातिशाख्य' में उन्होंने उपसर्गों की संख्या और उनके स्वयं सार्थक होने की बात भी स्पष्ट रूप से कही है ।[१] अतः निस्सन्देह उनके और उनके अनुयायी प्रातिशाख्यकार कात्यायन के मत में उपसर्ग अर्थ वाचक हैं, अर्थ द्योतक नहीं ।

बाद के आचार्यों में वार्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि भी उपसर्गों को विशेषकृत मानते हैं ।[२] इससे वार्तिककार वास्तव में क्या कहना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं हो पाता । यद्यपि महाभाष्यकार ने उपसर्गों का स्वरूप बताते हुए कहा है 'उपसर्ग ऐसे हैं कि जहाँ कोई क्रियावाचक शब्द प्रयुक्त होता है, वहाँ वे उस क्रिया की विशेषता को कहते हैं'[३] यथा- *'उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मका यत्र कश्चित् क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते, तत्र क्रियाविशेषमाहुः।'* यहाँ 'आहुः' शब्द का प्रयोग उपसर्गों की वाचकता को सिद्ध करना है, न कि द्योतकता को । किन्तु उनके द्वारा आगे व्यक्त किए सन्दर्भों से कुछ शङ्का हो आती है कि वे कदाचित् उपसर्गों को द्योतक ही मानते हों । उनका कथन है कि धातु अनेकार्थक होती हैं । अतः यहाँ तिष्ठति तथा प्रतिष्ठते में भी √स्था ही 'जाना' अर्थ का भी वाचक है और √स्था ही 'ठहरना', 'रुकना' अर्थ का भी वाचक है । वस्तुतः आचार्य पतञ्जलि के इसी कथन के आधार पर ही आचार्य कैयट और नागेश भट्ट ने अपना उपसर्गों की द्योतकता का सिद्धान्त खड़ा किया है । अनर्थक अधि, परि पर महाभाष्यकार (१.४.९३) पर कहते हैं, 'अनर्थक का अर्थ क्या है? जो किसी अन्य अर्थ का अभिधान नहीं करते, धातु के द्वारा अभिहित क्रिया को ही कहते हैं, वे

१- ऋक्प्रातिशाख्य १२.२०- 'उपसर्गा विंशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम्' ।

२- महाभाष्य १.३.१ वा०७ – 'क्रियाविशेषक उपसर्गः' ।

३- महाभाष्य २.१.१ वा० ४ ।

अनर्थक हैं। जैसे –'*ब्राह्मणौ द्वावानय*' इस वाक्य में दो की सङ्ख्या द्विवचन द्वारा कह दी गयी है। यदि मात्र '*ब्राह्मणौ आनय*' कहा जाता तब भी उपरोक्त अर्थ ही प्रकट होता । किन्तु फिर भी द्वौ का प्रयोग किया गया है।' यहाँ महाभाष्यकार ने धातु के द्वारा अभिहित क्रिया को प्रकट करने वाले उपसर्गों को स्पष्ट शब्दों में निरर्थक कहा है अर्थात् अर्थ द्योतन मात्र करने वाले उपसर्ग अनर्थक हैं। ऐसा आचार्य पतञ्जलि का मन्तव्य प्रतीत होता है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पतञ्जलि उपसर्गों को द्योतक मानने के पक्ष में नहीं हैं । वे उपसर्गों को वाचक ही मानते हैं ।

आचार्य दुर्ग ने (१.३) यों तो वाचक के रूप में उपसर्ग की न केवल व्याख्या की है, अपितु प्रत्येक उपसर्ग के अनेक अर्थ होते हैं, यह बात भी स्वीकार की है । परन्तु वस्तुतः श्रद्धा की दृष्टि से वे उपसर्गों को द्योतक ही मानते हैं । निरुक्त १.३ की भाष्य टीका में उपसर्गों की वाचकता द्योतकता के प्रकरण के अन्त में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उनका यह लिखना – '*आह- नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्युक्तम् । अत्र नाम्नः कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्येवं न गृह्यते।*' द्योतकतापक्ष को ही सिद्धान्ततः प्रस्तुत करता है । आगे इन दोनों पक्षों 'वाचकता और द्योतकता' पर विस्तार से विवेचन प्रस्तुत है –

<u>उपसर्ग-द्योतकतापक्ष</u> आचार्य शाकटायन का मत है कि उपसर्ग नाम और आख्यात पदों के साथ संयुक्त होकर अर्थ द्योतन मात्र कराते हैं, उनका स्वयं कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता । उनका मानना है कि यदि उपसर्गों का अपना अभिधेय अर्थ होता तो उनका वाक्य में स्वतन्त्र प्रयोग भी दिखाई पड़ता है । गाय, अश्व आदि के समान ये 'प्रादि' स्वतन्त्र अर्थ बोधक नहीं होते हैं, अतः वाक्य में इनका स्वतन्त्र प्रयोग परिलक्षित नहीं होता । वाक्यों में भी ये नाम और आख्यात पद के साथ लगकर ही अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ हो सकते है जैसे – अर्थबोधक वर्णसमुदाय (शब्द) के समस्त वर्णों का स्वतः कोई अर्थ नहीं होता, वे संगठित रूप में ही अर्थबोधक होते हैं, उसी प्रकार से उपसर्गों का भी स्वतन्त्र रूप में कोई अर्थ नहीं होता है वे संयुक्त होकर ही अर्थ-बोधन कर सकते हैं ।

उपसर्ग-वाचकतापक्ष आचार्य गार्ग्य के मतानुसार उपसर्गों के कई प्रकार के अर्थ होते हैं और नाम तथा आख्यात के अर्थ विकरण को स्पष्टता से कहते हैं । तात्पर्य यह है कि आचार्य गार्ग्य उपसर्गों का स्वतन्त्र अर्थ भी स्वीकार करते हैं । साथ ही नाम और आख्यात की सन्निधि को प्रयोग विधि का आधार भी स्वीकार करते हैं । इनके अनुसार उपसर्ग मात्र अर्थ-द्योतक ही नहीं अपितु अर्थ-वाचक भी हैं । प्रत्येक उपसर्ग पदों के भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र अर्थ होते हैं, जो नाम और आख्यात पदों के अर्थ के साथ मिलकर उसमें विकार उत्पन्न कर देते हैं न कि उनके पूर्वतः विद्यमान अर्थ को ही प्रकाशित करते हैं । वस्तुतः उपसर्गों के संयोग में नाम और आख्यात पदों में जो अर्थगत विशिष्टता उत्पन्न होती है वह परस्पर दोनों के अपने-अपने (उपसर्ग+नाम/आख्यात) अर्थों के मेल से होती है । यथा - गच्छति का अर्थ है गति । आगच्छति, निर्गच्छति, प्रगच्छति, सङ्गच्छति आदि शब्दों में सर्वत्र गति की अभिव्यञ्जना स्पष्ट ही है, परन्तु इधर (आ), बाहर (निर्), प्रारम्भ (प्र), तथा मिश्री भाव (सम्) अर्थ क्रमशः आ, निर्, प्र, सम् उपसर्गों का है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि उपसर्गार्थ के मिलने से नाम और आख्यात के स्वयं के अर्थों में विशिष्टता आ जाती है। अतः द्योतकता पक्ष का यह सिद्धान्त कि उपसर्ग अर्थ का द्योतन कराते हैं, अनुमन्य नहीं हो सकता क्योंकि नाम और आख्यात स्वयं सार्थक होते हैं । अर्थबोधन के लिए उन्हें उपसर्गों की सहायता की भला क्या आवश्यकता ? अतः वाचकतापक्ष का सिद्धान्त यहाँ अधिक बलवान सिद्ध होता है । अतः सर्वथा स्वीकरणीय है ।

महर्षि यास्क ने उपसर्गों की वाचकता को न केवल उत्तर पक्ष के रूप में प्रस्तुत ही किया है अपितु प्रत्येक उपसर्ग के कम से कम एक-एक अर्थ को तो बतलाया भी है । इससे यह निश्चित हो जाता है कि यास्क भी उपसर्गों को वाचक ही मानते हैं ।[1] उन्होंने निरुक्त ५.२८ में *'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः'* कहकर 'अच्छ' को 'अभि' उपसर्ग के अर्थ में बताते हुए शाकपूणि का भी मत प्रस्तुत किया है, इससे स्पष्ट होता है कि महर्षि यास्क और आचार्य शाकपूणि दोनों ही उपसर्गों की वाचकता के पक्ष में हैं । महर्षि यास्क ने निरुक्त २.२५ में भी *'प्र*

१- निरुक्तमीमांसा पृ० १७५ ।

सिन्धुमच्छा' की व्याख्या में *'प्राभिह्वयामि सिन्धुम्'* कहा है । यहाँ भी वे *'अच्छ'* को *'अभि'* के ही समानार्थी के रूप में ही ग्रहण करते हैं । अतः स्पष्ट ही है कि महर्षि यास्क को उपसर्गों की वाचकता ही अभीष्ट है ।

देवराज यज्वा के मत में उपसर्ग

आचार्य देवराज यज्वा के विषय में जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि उन्हें मात्र अव्याख्यात निघण्टुओं को व्याख्यात कर देना और उन्हें एक व्यवस्थित क्रम में सम्पादित करना ही अभीष्ट रहा है । परन्तु फिर भी निघण्टुओं के निर्वचनों और व्युत्पत्ति के क्रम में यज्वा के कुछ विचार और सिद्धान्त परिलक्षित होते हैं । उनके अनुसार उपसर्ग स्वयं सार्थक हैं और वे नाम और आख्यात पदों के साथ समन्वित होकर ही प्रयुक्त होते हैं । उपर्युक्त दोनों बातें इस आधार पर मेरे द्वारा कही गई कि यज्वा ने उपसर्गों के स्वतन्त्र प्रयोग का कहीं भी समर्थन नहीं किया है । साथ ही जहाँ कहीं यज्वा द्वारा उपसर्गों का प्रयोग किया गया है, वहाँ-वहाँ उन उपसर्गों का अर्थ भी स्पष्ट किया गया है । मात्र एक नहीं वरन् यथासम्भव कई-कई अर्थ भी दिए गए हैं । आचार्य देवराज यज्वा द्वारा निर्दिष्ट उपसर्ग और उनके अर्थ इस प्रकार हैं –

आचार्य देवराज यज्वा द्वारा प्रयुक्त उपसर्ग और उनके अर्थ

निघण्टु भाष्यकार देवराज यज्वा ने यास्क के समान पृथक् उपसर्गों की सङ्ख्या और उनके सम्बन्धित अर्थ की अपनी कोई सूची नहीं दी है। वैसे भी वह कतिपय विषयों पर महर्षि यास्क के ही अनुगामी प्रतीत होते हैं । अतः महर्षि यास्क द्वारा प्रस्तुत की गई सूची के आधार पर ही आगे बढ़ते हुए अध्ययन क्रम में जो प्राप्त होता है वह इस प्रकार है –

<u>१. आ</u> इस उपसर्ग की गणना निघण्टुओं में ४.२ पर की गई है । 'आ' इस उपसर्ग पद की व्याख्या में आचार्य देवराज यज्वा ने अपना पृथक मत न देकर *'आ इत्यर्वागर्थे इत्युपसर्गो व्याख्यातः'* (निरुक्त १.३) कहकर महर्षि यास्क का ही अनुगमन किया है ।

<u>२. प्र</u> आचार्य यज्वा द्वारा 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग चार स्थानों पर किया गया है – 'प्रयः (निघ०

१.१२)', 'प्रवयाः (निघ० ३.२७)', 'प्राशुः (निघ० २.१५)', तथा 'सुप्रायणाः(निघ० ४.१)' में 'सु' और 'प्र' इन दोनों उपसर्गों का संयुक्त प्रयोग किया गया है । यज्वा द्वारा 'प्र' उपसर्ग दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है – १. प्रकर्ष तथा २. प्रगत । यथा –

'प्रकर्षेण यच्छति प्रयः'। , एवं 'प्रगतं वयो यस्य' (प्रवयाः) ।

<u>३.परा</u> आचार्य यज्वा द्वारा कहीं-कहीं उपसर्गों का प्रयोग धात्वर्थ में भी किया गया है। यथा – 'परावतः (निघ० ३.२६)' की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं – *'ईरयतेर्वेतेर्गति कर्मणो वा संसाधनेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रोपसर्गात् परोपसर्गाद्वा 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (अ० ५.१.११७)' इति वतिः ।'* यहाँ पर यज्वा द्वारा महर्षि पाणिनि का अनुगमन स्पष्ट दिखाई देता है ।

इसके अतिरिक्त 'पराके (निघ० ३.२६)' और 'पराशरः (निघ० ४.३)' में भी उपसर्ग का प्रयोग किया गया है । 'पराके' में इसका अर्थ 'निषेध' है, ऐसा प्रतीत होता है । यथा -

.... पराकीर्णं च तद् विक्षिप्तमिव भवति । (पराके निघ० ३.२६) ।

<u>४- अभि</u> इस उपसर्ग का प्रयोग यज्वा द्वारा दो बार किया गया है । एक बार 'अभीशव (निघ० १.५)' में सर्वत्र के अर्थ में तथा दूसरी बार 'अभीके (निघ० २.१७)' में सम्मुख या अभिमुख के अर्थ में । इसमें से 'अभीत्याभिमुख्यम्' (निरु० १.३) में महर्षि यास्क द्वारा भी अभिमुख अर्थ को ही बताया गया है । लोक में भी इसका यही अर्थ अधिक प्रशस्त माना जाता है, यथा – 'अभियान' अर्थात् सामने की ओर या आगे की ओर बढ़ना ।

<u>५- प्रति</u> इस उपसर्ग का कोशगत अर्थ इस प्रकार है –

<u>क-</u> १. की ओर, की दिशा में; २. वापिस, लौटकर, फिर; ३. के विरुद्ध, के मुकाबले में, विपरीत; ४. ऊपर, घृणा ।

<u>ख-</u> सञ्ज्ञाओं (कृदन्त से भिन्न) से पूर्व उपसर्ग के रूप में निम्नाङ्कित अर्थ –

१. समानता, समरूपता, सादृश्य ; २. प्रतिस्पर्धा –यथा प्रतिचन्द्र, प्रतिपुरुष आदि ।

<u>ग-</u> स्वतन्त्र रूप से सम्बन्धबोधक अव्यय के रूप मे प्रयुक्त (कर्म के साथ) निम्नाङ्कित अर्थ –

१). की ओर, की दिशा में, की तरफ़; २). के विरुद्ध, प्रतिकूल, की विपरीत दिशा में, सम्मुख ....।[१]

<u>घ-</u> स्वतन्त्र सम्बन्धबोधक अव्यय के रूप में (अपादान के साथ) इसका अर्थ है; १). प्रतिनिधि, के स्थान में, २) के बदले ।

<u>ङ-</u> अव्ययीभाव समास के प्रथम पद के रूप में प्रायः इसका अर्थ है; १). प्रत्येक में, २). की ओर ।

<u>च-</u> 'प्रति' कभी-कभी 'अल्पतार्थ' प्रकट करने के लिए अव्ययीभाव समास के अन्तिम पद के रूप में प्रयुक्त होता है । यथा— सूपप्रति, शाकप्रति ।

निरुक्तकार महर्षि यास्क इसका अर्थ *"प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। (निरु० १.३)"* अर्थात् 'अभि' उपसर्ग का जो अर्थ है, उसका विपरीत अर्थ 'प्रति' का है, ऐसा कहते हैं । महर्षि यास्क द्वारा प्रस्तुत इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए आचार्य यज्वा का 'प्रतीच्यम् (निघ० ३.२५)' पद की व्युत्पत्ति में 'प्रति' उपसर्ग का निर्देश द्रष्टव्य है । यहाँ पर प्रति पूर्वक चिनोति से प्रतीच्यम् की व्युत्पत्ति बतलाई गई है । 'चिनोति' अर्थात् चयन करना या सामने लाना, प्रति उपसर्ग उसका निषेध होकर अर्थ हुआ छुपा देना या अन्तर्हित कर देना ।

शब्दार्थ के लिए निरुक्त के पश्चात् प्रमाण स्वरूप अमरकोष में 'प्रति' उपसर्ग का अर्थ वीप्सा अर्थात् व्याप्त होने की इच्छा,[२] ऐसा प्रस्तुत है । देवराज यज्वा ने कदाचित् इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'प्रतिष्ठा (निघ० ३.२)' शब्द की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हुए प्रतिपूर्वक स्था धातु से सिद्ध करते हुए 'प्रतितिष्ठति' ऐसा कहा है । वर्त्तमान समय में भी 'प्रतिष्ठा' का अर्थ 'सर्वव्याप्त प्रसिद्धि' ही अनुमन्य है ।

<u>६- अति</u> 'अति' उपसर्ग का कोई उदाहरण यज्वा के भाष्य में नहीं प्राप्त होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह इसे उपसर्गों की गणना में स्वीकार नहीं करते थे अपितु निर्वचन या

१- संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे) ।

२- प्रति प्रतिनिधौ वीप्सा लक्षणादौ प्रयोगतः (अमरकोश ३.३.२४५) ।

व्युत्पत्ति के क्रम में कदाचित् उन्हें ऐसा कोई अर्थ अभीष्ट न हुआ जिसकी सिद्धि में इस उपसर्ग का व्यवहार सम्भव हो ।

<u>७-सु</u> 'सु' उपसर्ग का निर्देश देवराज यज्वा ने 'सुग्म्यम् (निघ० ३.६)', 'सुतुकः (निघ० ४.१)','सुदत्रः (निघ० ४.३)', 'सुपर्णाः (निघ० १.५)','सुम्नम् (निघ०३.६)', 'सुम्नावरी (निघ० १.८)','सुविते (निघ० ४.१)', 'सुविदत्र (निघ० ४.३)','सूनरी (निघ० १.८)', 'सुनृता (निघ०१.८)','सुनृता (निघ०२.७)', 'सूनृतावती (निघ० १.८)',' सूनृतावरी (निघ० १.८)', 'सूर्त्ते (निघ० ४.३)' इन चौदह निघण्टुओं की व्युत्पत्ति और निर्वचन प्रस्तुत करते हुए किया है, तथा इसका सुष्ठु, सुन्दर, शोभन आदि अर्थ स्वीकार किए हैं ।

अमर कोश में इसके अर्थ दो भिन्न-भिन्न पद्यों में एक स्थान (३.४.२) पर अतिशय अर्थात् बहुधा अर्थ में[१] तथा अन्य स्थान (३.४.५) पर पूजन अर्थ में है ।[२] महर्षि यास्क को भी इसका पूजन अर्थ ही अभीष्ट है ।[३]

आधुनिक कोशों में 'सु' का अर्थ अच्छा, भला, श्रेष्ठ, सुन्दर, मनोहर, खूब, सर्वथा आदि प्राप्त होता है ।[४]

<u>८- निर्</u> 'अति', 'सु' का अर्थ कहने के पश्चात् महर्षि यास्क आगे कहते हैं – *'निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम् (नि० १.३)'* अर्थात् 'अति' और 'सु' का विपरीतार्थी 'निर्' और 'दुर्' है।

शब्दार्थ प्रमाण स्वरूप अमरकोश में 'निर्' का अर्थ करते हुए कहा गया है – *'निर्निश्चयनिषेधयोः (अमरकोश ३.३.२५३)'* अर्थात् निश्चय के अर्थ में और निषेध के अर्थ में अर्थात् दूर करने में 'निर्' उपसर्ग प्रयुक्त होता है ।

आचार्य देवराज यज्वा ने 'निण्यम् (निघ० ३.२५)','निर्ऋति (निघ० १.१)', 'निष्षपी

१- बलवत्सुष्ठु किमुतस्वत्यतीव च निर्भरे ।(अमरकोश ३.४.२) ।

२- पूजने स्वति । (अमरकोश ३.४.५) ।

३- अति सु इत्यन्नपूजितार्थे (निरुक्त १.३) ।

४- संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे) ।

(निघ० ४.२)' –इन पदों की व्युत्पत्ति में 'निर्' का निर्देश किया है । 'निर्' का देवराज यज्वा की दृष्टि में क्या अर्थ है ? इस पर विचार करने पर यहाँ 'निर्' का *'निर्णीतं बहिर्नीतम्'* [१] इस निर्वचन के अनुसार 'निर्' का अर्थ 'बाहर' प्रतीत होता है । किन्तु 'निर्ऋतिः' (निघ०१.१) और 'निष्षपी' (निघ० ४.२) में यज्वा अमरकोश के 'निश्चय' अर्थ का अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं ।

<u>९- दुर्</u> महर्षि यास्क ने 'दुर' को अर्थ की दृष्टि से 'निर्' के समान ही माना है । निरुक्त ४.५ में 'दुरोणे' [२] पद के निर्वचन के रूप में प्रस्तुत *'दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः'* इस निर्वचन के अनुसार 'दुर्' या 'दुस्' अथवा 'दुः' का अर्थ 'दुःखकर' निर्दिष्ट किया गया है ।

आचार्य देवराज यज्वा इस सम्बन्ध में पूरी तरह से महर्षि यास्क तथा स्कन्दस्वामी से सहमत हैं । 'दुरोणे' (निघ० ३.४) के समान ही 'दुर्य्या' (निघ० ३.४) में भी यही बात स्पष्ट होती है।

<u>१०- नि</u> महर्षि यास्क ने 'नि' का अर्थ स्पष्ट करते हुए *न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ'* कहा है । 'विनिग्रह' का अर्थ पकड़ कर अथवा शासन में रखने के हैं ऐसा पं० भगवद्दत्त का मत है।

देवराज यज्वा द्वारा 'निबर्हयति' (निघ०२.१९), 'निधा (निघ०४.१)', 'नियुतः (निघ० १.१५)', 'निवित्' (निघ० १.११) में अर्थगत विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि यज्वा 'नि' को 'निर्' के समान ही निश्चयार्थक मानने के पक्ष में हैं ।

<u>११-अव</u> महर्षि यास्क द्वारा 'अव' को भी विनिग्रहार्थी माना गया है । आचार्य देवराज यज्वा ने 'अवचाकशन' (निघ०३.११) और 'अवतः' (निघ०३.२३) में ही अव का निर्देश प्रस्तुत किया है। 'अवतः'का निर्वचन करते हुए 'कूपनामानि' नें *'अवातति खन्यमानोऽधो गच्छति'* यह निर्वचन प्रस्तुत करना यहाँ 'अव' का अर्थ 'नीचे' होने की सम्भावना को प्रकट करता है।

आधुनिक कोश ग्रन्थकारों में वामन शिवराम आप्टे इसका अर्थ 'दूर, परे, फ़ासले पर,

१- निघण्टु निर्वचनम् ३.२५.१ ।

२- निघण्टु ३.४ ।

नीचे' आदि[1] प्रस्तुत करते हैं।

<u>१२- उत्</u> 'कूपनामानि' के अन्तर्गत ही 'उत्सः' (निघ०३.२३) की व्याख्या करते हुए आचार्य देवराज यज्वा निर्वचन प्रस्तुत करते हैं— *'उद्गच्छति अस्माद् जलम्, स्यन्दत आर्द्रीक्रियते वा जलेन।'* यहाँ यज्वा के मतानुसार उत् का अर्थ 'ऊपर' ऐसा प्रतीत होता है। महर्षि यास्क ने अपना मत प्रस्तुत करते हुए *'उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम्' (निघ०१.३)* अर्थात् 'उत्' यह 'नि' और 'अव' का प्रतिलोम है, ऐसा कहा गया है। आधुनिक कोशकारों में अग्रणी व सुप्रसिद्ध कोशकार वामन शिवराम आप्टे इसका अर्थ 'सन्देह, प्रश्न, वाचकता, सोच-विचार और तीव्रता' मानते हैं। उत्कृष्ट, उत्थान, उत्क्रम आदि शब्द इसके लौकिक उदाहरण हैं।

अमरकोश में प्रस्तुत *'-उताप्यर्थविकल्पयोः'* से पता चलता है कि अमरकोशकार को कदाचित् इसका अप्यर्थक समुच्चय और विकल्प अर्थ अभिमत रहा है।[2]

<u>१३- सम्</u> यज्वा ने 'समत्सु' (निघ० २.१७), 'समरणे' (निघ०२.१७), 'समिति' (निघ०२.१७), 'समिथे' (निघ० २.१७), 'सभीके' (निघ०२.१७), 'समोहे' (निघ०२.१७) इन निघण्टु पदों की व्युत्पत्तियों को प्रस्तुत करते हुए 'सम्' उपसर्ग का निर्देश किया है। अर्थगत दृष्टि से 'समत्सु' का निर्वचन करते हुए यह कहना कि *'सम्भक्षन्ति योद्धृणामायूंषि।'* यहाँ 'सम्' का अर्थ 'सम्यक् रूप से' ऐसा प्रतीत होता है। वहीं एक अन्य निघण्टु 'समोहे' के निर्वचन *'समुह्यन्तेऽत्र रथादिना सुभटाः'* में सम् का अर्थ 'एकीभाव' ध्वनित होता है। महर्षि यास्क ने 'सम्' का अर्थ बताते हुए *'समित्येकीभावम्'*[3] ऐसा कहा है जिसे बाद में भी विभिन्न सन्दर्भों में ग्रहण किया गया है। यथा — सङ्गहित, सम्प्रयोगः, सम्भूत आदि लौकिक प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

<u>१४-वि</u> महर्षि यास्क ने इस का अर्थ करते हुए *'व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्'*[4] कहा है, अर्थात् 'वि'

१- संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे)।

२- अमरकोश ३.३.२४३।

३- निरुक्त १.३।

४- निरुक्त १.३।

और 'अप' 'सम्' उपसर्ग से भिन्न अर्थ रखता है ।आचार्य देवराज यज्वा ने 'वि' को अनेकार्थी सिद्ध करते हुए इसका निर्देश सर्वाधिक अठारह निघण्टु पदों में करते हुए यथासम्भव इसके अनेक अर्थों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । यथा – 'विवाक्' (निघ०२.१७) में प्रस्तुत निर्वचन *'विविधा विरुद्धा वाचो यत्र योधानाम्'* में 'वि' का अर्थ 'विविध' या 'विरोध' कहा है, तो 'विखादः' (निघ०२.१७) का निर्वचन करते हुए *'विशिष्टं स्थैर्य्यमत्र शूराणां हिंसनं वा'* कहकर यहाँ 'वि' का 'विशिष्ट' अर्थ कहा है। इसके अतिरिक्त 'विजामातुः' (निघ० ४.३) के निर्वचन में यज्वा द्वारा *'विगता जामातृगुणा यस्मात्'* यह कहना 'वि' का 'विगता' अर्थ प्रकट करता है । किन्तु 'वि' उपसर्ग से निर्दिष्ट अन्य सभी निर्वचनों में 'विविध' या 'विशिष्ट' अर्थ की ही प्रधानता परिलक्षित होती है ।

आधुनिक कोश ग्रन्थों में 'वि' का पृथक्करण वियोजन तथा धातु के अर्थ को पलट देना जैसे क्रय - खरीदना, विक्रय - बेचना आदि प्रस्तुत किए गए हैं। [१]

<u>१५- अप</u> महर्षि यास्क ने 'अप' का अर्थ 'वि' के समान ही माना है । आचार्य देवराज यज्वा ने 'अप' का 'अपत्यम् (निघ०२.२)' और 'अप्वे (निघ० ४.३)' की व्युत्पत्तियों में निर्देश किया है । 'अप्वे' का निर्वचन करते हुए यज्वा ने कहा है – *'अपवाययति, अपगमयति सुखंप्राणांश्चेत्यर्थः ।'* इससे 'अप' का अर्थ 'निषेध' ध्वनित होता है ।

आधुनिक कोशकारों में मूर्द्धन्य विद्वान वामन शिवराम आप्टे के मतानुसार 'अप' के दूर, ह्रास, विरोध, निषेध, प्रत्याख्यान, वर्णन आदि अर्थ होते हैं । [२]

<u>१६- अनु</u> *'अन्विति सादृश्यापरभावम् ।'* इस यास्कीय लक्षण के अनुसार 'अनु' के दो अर्थ किए जा सकते हैं । १- सादृश्य और २- अपरभाव । अपरभाव का अर्थ आचार्य स्कन्द स्वामी ने पश्चाद्भाव माना है ।

देवराज यज्वा द्वारा प्रस्तुत निर्वचन — *'अनुमन्यते यदनुमन्तव्यम्'* [३] में अर्थगत दृष्टि से

१,२ - संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे) ।

३- अनुमतिः (निघण्टु निर्वचनम् ५.५) ।

अपरभाव का ग्रहण किया जा सकता है । किन्तु 'अनुष्टुप (निघ० १.११)' में 'अनु' उपसर्ग का अर्थ स्पष्ट नहीं है ।

आचार्य यज्वा द्वारा ग्रहणीय शब्दार्थप्रमाणज्ञ 'अमरकोश' में भी *'पश्चात्सादृश्ययोरनु'* [१] कहकर महर्षि यास्क के मत का ही अनुमोदन किया गया है । सम्भव है आचार्य देवराज को भी ये दोनों ही अर्थ अभिमत होंगे, किन्तु स्थानाभाववश इसका सम्यक विवेचन यज्वा द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सका है ।

<u>१७- अपि</u> 'अपि' का अर्थ महर्षि यास्क संसर्ग बताते हैं । [२] लौकिक साहित्य में इसका प्रयोग अनेक भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है । परन्तु सन्दर्भाभाव के कारण यज्वा द्वारा किसी भी निघण्टु में की गई व्याख्या में इसका निर्देश प्राप्त नहीं होता । किन्तु यज्वा द्वारा 'अपि' का निर्देश न किया जाना इस तथ्य का द्योतक कदापि नहीं मानना चाहिए कि यज्वा की दृष्टि में 'अपि' उपसर्ग नहीं है । वस्तुतः तो वह यास्क का ही अनुगामी और फिर उपसर्गों की गणना में यास्क से पूर्ववर्ती सभी प्रातिशाख्यों आदि में 'अपि' की गणना उपसर्गों में सर्वत्र की गई है, तो यज्वा द्वारा 'अपि' को उपसर्ग माना जाता है या नहीं इस विषय में किसी भी सन्देह को स्थान न देना ही उचित है ।

<u>१८- उप</u> लौकिक साहित्य और उपनिषद् के आलोक में 'उप' का अर्थ 'समीप' ग्रहण किया जाता है ।

महर्षि यास्क ने 'उपेत्युपजनम्' [३] कहकर 'उप' को 'उपजन' अर्थ वाला कहा है । 'उपजन' को स्पष्ट करते हुए आचार्य स्कन्द ने इसका उपचय, उपधान व उपकार अर्थ किया है ।

आचार्य देवराज यज्वा ने 'उपब्दिः (निघ० १.११)', 'उपमे (निघ० २.१७)', 'उपरा (निघ० १.६)' में 'उप' उपसर्ग का प्रयोग सिद्ध किया है ।

उपर्युक्त पदों के सन्दर्भ में प्रस्तुत यज्वा द्वारा दिये गए निर्वचनों का विश्लेषण करें तो (उपब्दिः= उप समीपे भक्तानां गच्छति, उप आचार्यसमीपे गम्यते इति वा । उपमे= उपच्छि

१- अमरकोश ३.३.२४८ ।

२- निरुक्त १.३ 'अपीति संसर्गम्' ।

३- निरुक्त १.३ ।

द्यते ह्यन्तिकम् । उपराः= उपरमन्ते आस्वभ्राणि प्राणिनो वा स्वस्वव्यापारेभ्यः।) **उप** का **समीप** अर्थ ही द्योतित होता है।

<u>१९-परि</u> 'परीति सर्वतोभावम्'[1] इस यास्कीय वृत्ति के अनुसार 'परि' का अर्थ सर्वतोभावम् अर्थात् सब ओर होने को व्यक्त करता है । आचार्य देवराज यज्वा ने भी महर्षि यास्क का ही अनुगमन किया है और 'परितक्म्या (निघ०४.१)' की व्युत्पत्ति और निर्वचन प्रस्तुत करते हुए *'परिपूर्वात् तकतेर्गतिकर्मणो मनिन् । परितः सर्वतो गच्छति, सर्वस्मिन् देशे रात्रिरस्ति ।'* तथा 'परिस्रवः (निघ० ३. २१)' की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हुए *'स्रु गतौ (भ्वा०प० ६७३) परिपूर्वः लोण्मध्यमैकवचनम्'* कहा है । इन दोनों ही में 'परि' का अर्थ 'चारों ओर' या 'सभी ओर' ही ध्वनित होता है ।

<u>२०-अधि</u> 'अध्रिगुः(निघ०४.२)' शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए आचार्य देवराज यज्वा का विचार है - *'अधिकृतो गौर्यस्मिन् मन्त्रे सोऽध्रिगुः । अधिकृतशब्दस्याध्रिभावः गोशब्दश्चात्र पशुमात्रोपलक्षकः ।'* इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अधि' का अर्थ सम्भवतः 'अधिकार' हो सकता है । महर्षि यास्क ने इसके दो अर्थ बताए हैं - १. उपरिभाव, २. ऐश्वर्य ।[2] आधुनिक कोश में भी 'अधि' का अर्थ 'ऊर्ध्व, ऊपर, आगे बढ़कर' आदि सङ्कलित है।[3]

इसके अतिरिक्त महावैयाकरण निघण्टु भाष्यकार आचार्य देवराज यज्वा ने 'सुप्रायणा (निघ० ४.१)' जैसे शब्दों की व्युत्पत्ति में उपसर्गों के द्वित्व प्रयोग का भी प्रदर्शन किया है । यथा –*'सुप्रपूर्वादयतेर्ल्युट् ।....सुप्रगमना इत्यर्थः ।'* उपसर्गों के द्वित्व प्रयोगकी यह परम्परा लौकिक साहित्य में भी अनवरत रूप से दृष्टिगोचर होती है । यथा — प्रसिद्ध > सुप्रसिद्ध, प्रधान > उपप्रधान, प्रयोग >वि-प्रयोग आदि।

इसी प्रकार 'समर्ये (निघ० २.१७)' में 'स' का प्रयोग 'सह' के अर्थ में दर्शनीय है ।

१- निरुक्त १.३ ।

२- अधीत्युपरिभावम् । ऐश्वर्ये वा । (निरुक्त १.३) ।

३-संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे) ।

निपात

निपात के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए विद्वत्श्रेष्ठ पं० शिवनारायण शास्त्री जी का मत है - 'निपात शब्द नि+पत्+घञ् से निष्पन्न है : अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण कुछ शब्द निपात कहलाते हैं । ये शब्द भाव प्रधान न होने से आख्यातों में, सत्व प्रधान नहीं होने के कारण नामों में, एवं नाम या आख्यात पदों से जुडे (उप+सर्जन के) बिना ही अर्थाभिधान करने के कारण उपसर्गों में सम्मिलित नहीं किए जा सकते । अतः इनकी अपनी एक पृथक् श्रेणी है वाक्य में कारक आदि सम्बन्ध की अपेक्षा किए बिना ही, जहाँ चाहे प्रयुक्त (निपातित) होने के कारण ये पद निपात कहलाते हैं ।[१]

महर्षि यास्क निपातों के विषय में कहते हैं - *'उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति । अप्युपमार्थे । अपि कर्मोपसङ्ग्रहार्थे । अपि पदपूरणाः ।'* [२] तात्पर्य यह है कि महर्षि यास्क के मतानुसार वे पद निपात हैं जो कभी उपमा के अर्थ में, कभी कर्मोपसङ्ग्रह के अर्थ में, तो कभी पदपूरण के लिए वाक्य में आवश्यकतानुसार प्रयोग किए जाते हैं । महर्षि यास्क ने इनके स्वतन्त्र अर्थ भी दिए हैं तथा उनसे सम्बन्धित निगमों द्वारा अपनी बात को प्रमाणित भी किया है । महर्षि यास्क के वर्णनानुसार यह स्पष्ट है कि यास्क के समय तक लौकिक और वैदिक भाषाओं में भारी अन्तर आ चुका था, परिणामस्वरूप एक ही निपात भाषा (लौकिक) और अन्वध्याय (वेद) में कभी भिन्न -भिन्न अर्थों का वाचक था तो कभी एक ही अर्थ का । यथा–*'तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां चान्वध्यायं च। अग्निरिव(ऋ० १०.८४.२) इन्द्रं इव (ऋ०१०.१७३.२) इति । नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम् ।'* [३] यहाँ 'इव' भाषा और अन्वध्याय दोनों ही स्थानों पर उपमार्थक हैं तो 'न' भाषा में प्रतिषेधार्थक तथा अन्वध्याय में उपमार्थक और प्रतिषेधार्थक दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त है । उदाहरणस्वरूप वे कहते हैं – *'नेन्द्रं देवममंसत (ऋ० १०.८६.१) इति प्रतिषेधार्थीयः । पुरस्तादुपाचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति । दुर्मदासो न सुरायाम् ।*

१- निरुक्त मीमांसा पृ० १७९ ।

२,३ - निरुक्त १.४ ।

(ऋ० ८.२.१२) इत्युपमार्थीयः ।' [1] इसके साथ ही वे कुछ निपातों को अनेक कर्मा भी कहते हैं। यथा –'*चिदित्येषोऽनेककर्मा ।'* [2]

निपात शब्द का इतिहास

पं० शिवनारायण शास्त्री जी के मतानुसार – 'वैदिक संहिताओं में निपात शब्द का प्रयोग केवल पैप्पलाद संहिता (१६.३६.९)[3] में हुआ है।[4] इसके अनन्तर कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों (ताण्ड्य २५.१०.४, षड्विंश ५.९.१२, तैत्तिरीय ३.१०.९.१२, जैमिनीयोपनिषद् ३.१.५.३) में नि+पत् से व्युत्पन्न पदों का प्रयोग प्राप्त होता है, किन्तु इन स्थानों पर कहीं भी उक्त रीति से व्युत्पन्न शब्द का प्रयोग भाषाशास्त्र के पारिभाषिक अर्थ में नहीं है । मात्र गोपथ ब्राह्मण (१. १.२४,२६) में निपात शब्द का प्रयोग पदों के एक विभाग के रूप में हुआ है । वेदाङ्ग साहित्य में भी यह शब्द भाषाशास्त्रीय सन्दर्भों में प्रचुरता से प्रयुक्त देखा जा सकता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में प्रातिपदिकार्थ के साथ धातु, छन्द, निर्वचन तथा युक्ति द्वारा उनके मूलार्थ को फैलाने [5] के लिए संयुक्त होकर आने वाले पदों को निपात कहा गया है, किन्तु यह लक्षण भी उपयुक्त और स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है क्योंकि इसमें उपसर्ग का किञ्चित् आभास भासित होता है ।

आचार्य कौटिल्य ने इसे स्पष्ट करने के लिए *"अव्ययाश्चादयो निपाताः"* कहकर इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कौटिल्य की यह परिभाषा पाणिनीय व्याकरण के सूत्र *'स्वरादिनिपातमव्ययम्'* का पिष्टपेषण मात्र ही प्रतीत होती है ।

आचार्य भर्तृहरि ने इसे स्पष्ट करने के लिए 'वाक्यपदीयम् (२.१९२)' में कहा है –

' निपाता द्योतका केचित् पृथगर्थाभिधायिनः ।

आगमा इव केऽपि स्युः सम्भूयार्थस्य वाचकाः ।'

१,२- निरुक्त १.४ ।

३- द कश्मीरियन अथर्ववेद पृ० ३७-३८ ।

४- निरुक्त मीमांसा पृ० १७९ ।

५- प्रातिपदिकार्थयोगाद्धातुच्छन्दोनिरुक्तयुक्त्या च । यस्मान्निपतन्ति पदे तस्मात् प्रोक्ता निपातास्तु । (नाट्यशास्त्रम् १५.२८) ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निपात लक्षण के सन्दर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं । वस्तुतः निपात की सही परिभाषा दे पाना बहुत कठिन कार्य है । पाणिनि ने भी कदाचित् इसी कारण से निपात का लक्षण न देकर इसका प्रतिपद परिगणन करना ही उचित समझा । अतः निपात के विषय में इतना मान लेना ही पर्याप्त है कि ये अव्यय हैं किन्तु इसका यह अर्थ कदापि न समझना चाहिए कि समस्त अव्यय निपात हैं ।

महर्षि यास्क के निरुक्त शास्त्र में ही निपात पद का प्रयोग अनेकधा वैदिक देवविद्या के आचार्य प्रधान देवता के साथ गौण रूप में स्तुत देवताओं को निपात देवता या नैपातिक देवता की सञ्ज्ञा से अभिहित किया गया है । इतना ही नहीं किसी गौण वस्तु के लिए निपात शब्द का उन्मुक्त प्रयोग दृष्ट है।[१] निरुक्त में प्राप्त तथ्यों के आधार पर पं० शिवनारायण शास्त्री जी को निरुक्त शास्त्र से प्राचीन देव विद्या में निपात शब्द का प्रयोग गौण अर्थ में, तथा भाषा शास्त्र में भी पदविभाग की अन्य तीन विधाओं (नाम, आख्यात, उपसर्ग) की अपेक्षा गौण विधा के लिए प्रयुक्त होने वाला पदसमूह ही अभिमत है ।

निपातों का वर्गीकरण

जैसा कि महर्षि यास्क के अभिकथन द्वारा स्पष्ट ही है कि 'निपात' भी सार्थक वर्ण समुदाय है और उन्होंने इन्हें तीन भागों में विभाजित किया है –

१. उपमार्थक

२. कर्मोपसङ्ग्रहार्थक

३. पद पूरणार्थक

अर्थगत विवेचन की दृष्टि से 'पदपूरण' कोई सार्थक वर्ण समुच्चय प्रतीत नहीं होता । अतः कुछ विद्वानों द्वारा इसे अनर्थक रूप में ही स्वीकार किया गया है।[२] अब शेष बचे उपमार्थक और कर्मोपसङ्ग्रहार्थक को ही सार्थक निपातों की श्रेणी में स्वीकर किया जाना उचित प्रतीत होता

१- निरुक्त २.२०, ७.१३, १८.२०, १८.३१, ११.११, ११.२०, १२.२०, १२.२९ से ३३ तक ।

२- माधवभट्ट (ऋग्वेदानुक्रमणी ३.१.१७-१८)।

है । इस प्रकार निपात मुख्य रूप से दो प्रकार के हो गए – सार्थक और निरर्थक ।

यास्क के अपने विवेचनों के आधार पर ही यह भी ध्यातव्य है कि कुछ निपात ऐसे भी हैं जो किसी एक प्रसङ्ग में उपमार्थक हैं तो किसी अन्य प्रसङ्ग में कर्मोपसङ्ग्रहार्थक । यहाँ तक कि कुछ इन दोनों के अतिरिक्त किसी-किसी प्रसङ्ग में निरर्थक रूप में भी प्राप्त हुए हैं ।

इसके अतिरिक्त प्रयोग के स्तर पर भी निपातों का प्रकरण दुरूह जान पड़ता है, क्योंकि कुछ निपात वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं तो कुछ मात्र वैदिक या मात्र लौकिक भाषा में ही । कुछ निपात ऐसे भी हैं जो अब लौकिक भाषा में प्रयोग से दूर हो चुके हैं, या यूँ कहें कि अब इनका प्रयोग बन्द हो चुका है ।

१- सार्थक निपात

क- उपमार्थक निपात 'इव', 'न', 'चित्', 'नु' इन चार निपातों को महर्षि यास्क ने उपमार्थक निपात कहा है । वस्तुतः ये चारों निपात वैदिक भाषा में ही उपमार्थक रूप में प्रयुक्त होते हैं लौकिक भाषा में मात्र 'इव' ही इस अर्थ में प्रयुक्त होता है । यथा – *'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व (ऋ० १०.८४.२)'* तथा लौकिक भाषा में *'दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या'* (रघुवंश)। आचार्य देवराज यज्वा ने 'इव' का मात्र वैदिक प्रयोग ही दिया है [१] जो कि उपमार्थक है ।

न महर्षि यास्क के अनुसार यह वैदिक भाषा में उपमा और निषेध दोनों ही अर्थों का वाचक है, परन्तु लौकिक में मात्र निषेध अर्थ का ही वाचक है। आचार्य यज्वा ने 'न' का मात्र उपमार्थक रूप ही प्रदर्शित किया है ।[२]

यद्यपि बृहद्देवता के अनुसार वैदिक भाषा में यह उपमा अर्थ में अल्पतः तथा निषेध अर्थ में प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुआ है।[३] जब 'न' अपने सम्बद्ध शब्द से पहले प्रयुक्त होता है तब उसका अर्थ निषेध होता है, जबकि जब वह अपने सम्बद्ध शब्द के पश्चात् होता है, तब उसका

१ -निघण्टु निर्वचनम् पृ० २५६ ।

२ -निघण्टु निर्वचनम् पृ० २५६ ।

३- उपमार्थे नकारस्तु क्वचिदेव निपात्यते। मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु प्रतिषेधे त्वनल्पशः ।। (बृहद्देवता २.९२) ।

अर्थ उपमा होता है।[१]

चित् महर्षि यास्क ने 'चित्' को अनेककर्मा कहा है[२]। यथा – 'मित्रश्चित् (ऋ० १०.१२.५)' में यह उपमा अर्थ में है, *'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्'* इस लौकिक वाक्य में 'चित्' आदर अर्थ को प्रकट करता है तथा *'कुल्माषाश्चिदाहर'* में यह निन्दा अर्थ को प्रकट करता है । लौकिक भाषा में 'चित्' का प्रयोग उपमा अर्थ में नहीं होता है ।

आचार्य देवराज यज्वा ने *'चतुरश्चिद्ददमानात् (ऋ० १.४१.९)'* यह वैदिक वाक्य प्रस्तुत करते हुए 'चित्' को उपमार्थक माना है ।

नु महर्षि यास्क ने इसे भी अनेककर्मा[३] बताते हुए इसके भिन्न-भिन्न अर्थ व प्रयोग के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं । यथा *'इदन्नु करिष्यति'* (इसे चूँकि करेगा) में कारण देना अर्थ में है । *'कथं नु करिष्यति'* (कैसे करेगा भला?) में प्रश्न के अर्थ में है। *'नन्वेतदकार्षीत्'* (क्या यह कर दिया?) में भी इसी अर्थ में है जबकि *'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः (ऋ० ६.२४.३)'* इस वैदिक वाक्य में यह उपमार्थक है ।

आचार्य देवराज यज्वा ने भी यहाँ महर्षि यास्क द्वारा प्रदत्त वैदिक मन्त्र को ही उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हुए 'नु' को उपमार्थक कहा है ।

ख- कर्मोपसङ्ग्रहार्थक निपात महर्षि यास्क के मतानुसार – 'जिसके आगम से वस्तु के पृथकत्व का बोध होता है परन्तु जो औद्देशिक (उद्दिष्ट वस्तु यथा –देवदत्त, यज्ञदत्त) के समान नहीं होता अपितु विग्रह से ही जाना जाता है वह कर्मोपसङ्ग्रहार्थक निपात है ।'[४]

महर्षि यास्क के इसी कथन को और स्पष्ट करते हुए निरुक्त मीमांसाकार पं० शिवनारायण शास्त्री जी कहते हैं – 'जिस निपात के आगम अर्थात् साक्षात् अथवा परोक्ष (बौद्ध)

१-पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति ।......उपरिष्टादुपचारस् तस्य येनोपमिमीते । तुलना— ऋग्वेदानुक्रमणी । ३.३.१२-१४ ।

२- चिदित्येषोऽनेककर्मा (निरुक्त १.४) ।

३- निरुक्त १.४ ।

४- अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः । (निरुक्त १.४) ।

प्रयोग से पदार्थों में अलगाव जाना जाता है, उस रूप में नहीं जिस रूप में शब्दों का अलग-अलग प्रयोग करके उनके अर्थों का अलगाव जाना जाता है; क्योंकि उन पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट शब्दों से तो उनके अलग-अलग एक दूसरे से भिन्न आकार या रूप के कारण ही उनके अर्थों का अलगाव जान लिया जाता है; अर्थात् जब शब्द अलग है तो उसका अर्थ भी अलग ही होगा; वह निपात कर्मोपसङ्ग्रह कहलाता है ।'[१]

तात्पर्य यह है कि अर्थों का विग्रह तो शब्दों के विग्रह के साथ ही हो जाता है, परन्तु जो निपात उससे भिन्न प्रकार के पार्थक्य को प्रकट करता है, वह कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय होता है । यथा– देवदत्तः, यज्ञदत्तः ये दोनों भिन्न-भिन्न पद हैं परन्तु यदि इनका समास किया जाय तो ये 'देवदत्तयज्ञदत्तौ' हो जाएगा और यदि पुनः इसका विग्रह किया जाय तो 'देवदत्तः यज्ञदत्तश्च' होगा । इसमें विग्रह की प्रक्रिया में आने वाला पार्थक्य सूचक 'च' यह कर्मोपसङ्ग्रहार्थक निपात हैं । महर्षि यास्क ने इनके भी पृथक्-पृथक् अर्थ दिए हैं । यथा –

<u>'च' तथा 'आ'</u> महर्षि यास्क के अनुसार 'च' और 'आ' ये दोनों ही निपात समुच्चयार्थक हैं ।[२] तथा उन्होंने इसे सिद्ध करने के लिए वैदिक प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं । किन्तु यहाँ आचार्य देवराज यज्वा का किञ्चित् मतभेद दिखाई देता है ।

आचार्य देवराज यज्वा ने 'नैघण्टु टीका परिशिष्ट' में *'जार आ भगम्* (ऋ० १०.११.६)' को स्पष्ट करते हुए यहाँ 'आ' को उपमार्थक निपात माना है न कि कर्मोपसङ्ग्रहार्थक ।

लौकिक संस्कृत में भी कर्मोपसङ्ग्रहार्थक निपात के अन्तर्गत समुच्चयबोधक के रूप में मात्र 'च' ही प्रयुक्त होता है । लौकिक संस्कृत में यह कभी दोनों संयोज्य पदों के पश्चात् तो कभी किसी एक के साथ प्रयुक्त होता है । जबकि वेद में इसके कहीं भी प्रयोग की स्वतन्त्रता है ।

<u>वा</u> *'वेति विचारणार्थे (निरु० १.४)'* यास्क के इस कथन के अनुसार 'वा' विचारण के अर्थ में प्रयुक्त होता है । यह निपात दोनों ही (वैदिक और लौकिक) भाषाओं में विकल्प के अर्थ में

१- निरुक्त मीमांसा पृ० १८१ ।

२- निरुक्त १.४ ।

प्रमुखता से प्रयुक्त होता है, परन्तु वैदिक में समुच्चय अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है ।[1] *'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा'* (ऋ०सं० १.११९.९), *इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति* (ऋ० सं० १.११९.१) में यह विचारण अर्थ में है तथा *'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा'* (तैत्तिरीय सं० १.७.७) में यह समुच्चयवाचक है ।

स्कन्दस्वामी के मत में इसके विकल्प, संशय, पक्षव्यावृत्ति तथा आवृत्ति आदि अर्थ भी होते हैं । प्रयोग की दृष्टि से यह 'च' के समान ही है; अर्थात् दोनों शब्दों के पश्चात् या उनमें से किसी एक के पश्चात् प्रयोग में आता है ।

<u>अह और ह</u> ये दोनों निपात 'विनिग्रह' अर्थात् विशेष नियमन अर्थ में एक से अधिक पदार्थों में से किसी एक पर अधिक बल देने के लिए उन पदों में से प्रथम (जिस पर बल डालना हो) के बाद प्रयुक्त होते हैं । महर्षि यास्क ने इसके लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । यथा–*'अयमहेदं करोत्ययमिदम् '* (यही वह करे, यह यह) । *'इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यति'* (वह इसे ही करेगा, इसे नहीं) । आचार्य स्कन्दस्वामी द्वारा इसके वैदिक उद्धरण भी प्रस्तुत किए गए हैं, जो कि इस प्रकार है – *'आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे '*(ऋ० १.६.४) । यहाँ 'आद्=अथ; अह=एव = इसके बाद ही' अर्थात् 'फिर कभी नहीं' अर्थ हैं ।[2] *'नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति'* (ऋ०१.१२५.५)।

<u>उ</u> महर्षि यास्क के कथनानुसार 'उ' निपात भी 'अह' और 'ह' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, परन्तु यह बाद वाले शब्द के साथ प्रयुक्त होता है ।[3] परन्तु पं० शिवनारायण शास्त्री जी इससे सहमत नहीं हैं । उनका तर्क है कि वैदिक भाषा में महर्षि यास्क द्वारा दी गयी व्यवस्था दिखाई नहीं पड़ती । सम्भवतः यास्क के समय में लौकिक संस्कृत में 'उ' का प्रयोग 'अह' और 'ह' के

१- अथापि समुच्चयार्थे भवति । (निरुक्त १.४) ।

२- स्कन्दस्वामी भाष्य ।भाग १ पृ० ५७,५९ ।

३- अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण । (निरुक्त १.५)।

समान किन्तु उत्तरवर्ती रूप में होता रहा हो ।[1]

वे अपने तर्क के सन्दर्भ में वैदिक उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं । यथा – *'तम् अकृण्वन्त्रेधा भुवे कम्* (ऋ० १०.८८.१०)', '*प्र यात शीभमाशुभिः सन्ति कण्वेषु वो दुवः । तत्रो षु मादयाध्वै* ' (ऋ० १.३७.१४), *'वयमु त्वा दिवा सुते, वयं नक्तं हवामहे'* (ऋ० ८.६४.९)' इन समस्त स्थलों पर 'उ' का प्रयोग 'अह' या 'ह' के समान ही हुआ है ।

इस निपात का प्रयोग कुछ एक स्थानों पर पदपूरण के रूप में भी हुआ है। यथा – *'इदमु त्यत्पुरुतमं ज्योतिः'* (ऋ० ४.५१.१), *'तदु प्रयक्षतममस्य कर्म'* (ऋ० १.६२.६)' ।

आधुनिक लौकिक संस्कृत में 'उ' का प्रयोग उपरोक्त अर्थों में न के बराबर ही है ।

<u>हि</u> महर्षि यास्क ने इसे भी अनेककर्मा अर्थात् अनेक अर्थ वाला कहा है । हेतु अर्थ में यह वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में प्रसिद्ध है । *'इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम् । इन्दवो वायुशान्ति हि ।'* (ऋ०१.२.४); *अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः'* (कुमारसम्भवम् ३.१५) । दुर्ग और स्कन्द के मतानुसार अनुप्रश्न (प्रश्न के बाद पुनः प्रश्न, प्रश्न की पुष्टि में ही प्रश्न, प्रश्न के उत्तर की पुष्टि में प्रश्न) में इसका प्रयोग होता है। यथा – *'तमेव त्वं प्रश्यसीति; तं हि'* (श०ब्रा० ३.६.२.४)। *'कथं हि व्याकरिष्यति'* में महर्षि यास्क इसे असूया अर्थ में कहते हैं । वस्तुतः 'हि' यहाँ भी प्रश्न को ही पुष्ट करता है । प्रश्न कर्ता के प्रश्न का आधार असूया (दोष दृष्टि) अवश्य प्रतीत होता है ।

<u>किल</u> महर्षि यास्क ने 'किल' निपात को विद्याप्रकर्ष सूचक माना है, साथ ही इसका अर्थ 'निस्सन्देह' माना है । आचार्य स्कन्द ने भी इसे 'निस्सन्देह' के अर्थ में ही स्वीकार किया है । महर्षि यास्क के मतानुसार यह निपात 'नु' और 'ननु' के साथ संयुक्त रूप से भी प्रयुक्त होता है।[2]

पं० शिवनारायण शास्त्री जी के मतानुसार 'किल' निपात ज्ञान की प्रसिद्धि को बतलाता

१- निरुक्त मीमांसा पृ० १८३ ।

२- निरुक्त १.५ ।

है । यह वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में प्रसिद्धिवाचक है : *'स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्'* (ऋ० ६.४७.१); *'पूर्वैः किलायं परिवर्द्धतो नः'* (रघुवंशम् १३.३) । 'न' और 'ननु' निपातों के साथ प्रयोग में आकर यह प्रश्न की पुष्टि को अथवा प्रश्न को ही प्रकट करता है । वस्तुतः 'न' वाले वाक्य में काकु से प्रश्न अर्थ जब आता है, तब ही 'किल' साथ लगने से यह अर्थ प्रकट होता है ।[1]

मा *'मेति प्रतिषेधे । मा कार्षीः । मा हार्षीरिति च ।'* इस यास्कीय व्याख्यान के अनुसार 'मा' का अर्थ प्रतिषेध है । वस्तुतः 'मा' निपात वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में निषेधार्थक ही है । यथा – *'मा ते सखाय सदमिद्रिधाम '* (ऋ० ४.१२.५); *'उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा '* (कुमारसम्भवम् १.१६)।

खलु महर्षि यास्क 'खलु' को भी अर्थ की दृष्टि से 'मा' के समान निषेधार्थक ही कहते हैं । तथा उनके मतानुसार कहीं-कहीं यह पादपूरण भी है । किन्तु वैदिक साहित्य में 'खलु' का प्रयोग मात्र पादपूरण या जोर देने वाले निपात के रूप में ही हुआ है । इसका निषेधार्थक प्रयोग कहीं भी द्रष्टव्य नहीं है । लौकिक संस्कृत में भी यह निषेधार्थक के रूप में कम और पादपूरण के रूप में अधिक प्रयुक्त होता है । कदाचित् महर्षि यास्क के समय में 'खलु' का दोनों रूपों में प्रयोग होता रहा होगा, इसलिए उन्होंने तत्कालीन समय में व्यवहृत भाषा के ही उदाहरण भी दिए हैं । यथा – *'खलु कृत्वा । खलु कृतम् । खलु तद् बभूव इति ।'*[2] महावैयाकरण आचार्य पाणिनि ने भी 'खलु' को निषेधार्थक ही बताया है ।[3]

शश्वत् इस निपात का नामनिर्देश करते हुए महर्षि यास्क ने इसका लौकिक अर्थ 'विचिकित्सा' बताया है ।वैदिक भाषा में यह किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस विषय पर वे मौन ही हैं । पं० भगवद्दत्त यहाँ 'विचिकित्सा' का अर्थ 'संशय' स्वीकार करते हैं । जबकि आचार्य दुर्ग और स्कन्द

१- निरुक्त मीमांसा पृ० १८३ ।

२- निरुक्त १.५ ।

३- अष्टाध्यायी ३.४.१८ ।

ने 'विचिकित्सा' का अर्थ 'निश्चय' स्वीकार किया है ।[1] वैदिक भाषा में शश्वत् पद का परिगणन (निघण्टु ३.१ में बहुवाचक) और निपात के रूप में भी हुआ है ।

<u>**नूनम्**</u> 'नूनम्' को भी महर्षि यास्क ने लौकिक भाषा में विचिकित्सार्थीय ही माना है । किन्तु महर्षि यास्क इसे वैदिक भाषा में दो भिन्न-भिन्न अर्थों १- विचिकित्सा (संशय या निश्चय) २- पादपूरण में स्वीकार करते हैं । यद्यपि लौकिक संस्कृत में 'नूनम्' 'निश्चय' अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, अतः यास्क के 'विचिकित्सा' शब्द का अर्थ 'निश्चय' स्वीकार करने में कोई विशेष आपत्ति नहीं माननी चाहिए । वस्तुतः वैदिक भाषा में यह 'अब' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों और अथर्ववेद संहिता में 'निश्चय' अर्थ प्राप्त होता है । महर्षि यास्क ने स्वयं भी निरुक्त १.६ में ऋ० १.१७०.१ के व्याख्यान में नूनम् की व्याख्या अद्यतनम् से ही की है ।[2] इसी के आगे वे 'नूनम्' के पादपूरण अर्थ की प्रामाणिकता दर्शाने हेतु ऋक् का ही एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं ।[3]

<u>**सीम्**</u> *'सीमिति परिग्रहार्थीयो वा । पदपूरणो वा ।'*[4] इस वृत्ति के अनुसार यह स्पष्ट है कि महर्षि यास्क द्वारा 'सीम्' निपात को परिग्रह अर्थात् सब ओर से ग्रहण करने के अर्थ में या पद-पूरण के अर्थ में स्वीकार किया गया है । लौकिक भाषा में 'सीम्' का प्रयोग नहीं प्राप्त होता है ।

आचार्य देवराज यज्वा ने 'परि', 'ईम' और 'सीम्' की गणना अपने ग्रन्थ 'निघण्टु निर्वचनम्' (४.३) में करते हुए महर्षि यास्क के ही निरुक्त के निपात प्रकरण का सन्दर्भ देकर ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री कर ली है । इससे सिद्ध होता है कि आचार्य देवराज यज्वा इन निपातों पर महर्षि यास्क से पूर्णतया सहमत हैं तथा इन पर और कुछ भी कहना पिष्टपेषण मात्र समझ कर व्यर्थ श्रम करना उचित नहीं स्वीकारते हैं ।

१-विचिकित्सा नाम विवेकपूर्वकोऽवधारणायाभिप्रायः । स्कन्दभाष्यः – विचिकित्सेति यद्यपि लोके सन्देह उच्यते... तथापीहोदाहरणेष्वसम्भान्न सन्देहो विचिकित्सोच्यतेत्रिंहि? निश्चयः ।

२- न नूनमस्त्यद्यतनम् ।(निरुक्त १.६) ।

३- निरुक्त १.६ ।

४- निरुक्त १.७ ।

त्व महर्षि यास्क के ही द्वारा यह कहना – *'निपात इत्येके'* [1] इस बात का प्रमाण है कि 'त्व' के सन्दर्भ में विद्वानों में इस विषय के लेकर पर्याप्त मतभेद हैं कि 'त्व' निपात है अथवा नहीं। महर्षि यास्क ने स्वयं इसे 'विनिग्रह' अर्थ में स्वीकारते हुए अनुदात्त सर्वनाम कहा है। कदाचित् वे यह कहना चाहते थे कि 'त्व' पद यदि निपात होता तो इसे व्याकरण के नियमों के अनुसार उदात्त होना चाहिए किन्तु यह अनुदात्त है। अतः यह निपात न माना जाकर इसे सर्वनाम पद स्वीकार करना ही उचित है।

'त्व' का निपातन यास्क से पूर्व भी विद्वानों में विमर्श का विषय रहा होगा, तभी महर्षि यास्क ने अपनी पूर्ववर्ती भिन्न-भिन्न विचारधाराओं की ओर सङ्केत करते हुए 'त्व' के सम्बन्ध में प्रचलित दोनों मतों का उद्घाटन किया है।

आचार्य देवराज यज्वा ने भी नैघण्टुक टीका परिशिष्ट में 'त्व' की व्याख्या करते हुए इसे अर्द्धशब्द स्वीकार किया है।[2]

महर्षि यास्क ने किन्ही अन्य आचार्य का मत उद्धृत करते हुए *'अर्धनामेत्येके'* [3] कहा है। तात्पर्य यह है कि त्व पद अर्द्ध नाम अर्थात् सर्वनाम है। इन आचार्य को भी कदाचित् स्वरप्रतिपादक अपवाद शास्त्र (कि निपात उदात्त ही होता है) ही अभिप्रेत रहा हो। महर्षि यास्क ने भी निरुक्त ३.२० में *'त्वो नेम इत्यर्धस्य'* कहकर इसे अर्धवाची ही स्वीकार किया है।

मात्र स्वरविधान के आधार पर ही 'त्व' को निपात न स्वीकार करना उचित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि आचार्य माधव की ऋग्वेदानुक्रमणी के अनुसार 'च, उ, वा, इव, घ, ह, चित्, स्म' आदि बारह निपात अनुदात्त हैं।' 'त्व' भी उन्हीं के समान अनुदात्त हो सकता है। किन्तु पुनः महर्षि यास्क *'तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्।'* [4] का उत्तर देते हुए कहते हैं – *'दृष्टव्ययं*

१- निरुक्त १.८।

२- निघण्टु निर्वचनम् पृ० २५७।

३- निरुक्त १.७।

४- निरुक्त १.८।

तु भवति' अर्थात् नामपद अनुदात्त हों या न हों, किन्तु विभक्तिवचनान्त रूपों में अवश्य मिलते हैं। नामपद उदात्त अनुदात्त ही नहीं अपितु व्यययुक्त भी होता है। 'त्व' सव्यय है। अतः यह निपात नहीं हो सकता।

<u>निरर्थक निपात</u> निरर्थक निपातों में उन निपातों का परिगणन किया जा सकता है जो किसी पद्य या गद्य ग्रन्थ में मात्र वाक्यपूर्ति अर्थात् वाक्यालङ्कार के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। वही निपात जब मित अक्षर वाले अर्थात् किसी छन्दोबद्ध ग्रन्थ में आते हैं, तब भी मात्र पादपूर्ति या छन्दपूर्ति ही इनके प्रयोग का प्रयोजन होता है। इस प्रकार के निपात जो गद्य या छन्द में मात्र वाक्यपूर्ति अथवा छन्दपूर्ति के लिए प्रयोग किए जाते हैं, वस्तुतः अनर्थक ही होते हैं।[१]

महर्षि यास्क ने इस प्रकार के निपातों की सङ्ख्या चार (कम्, ईम्, इत्, उ) बताई है। ये भी जब इनका अर्थ करना सम्भव न हो, अर्थ सूक्ष्म हो, वाक्यार्थ में इनके अर्थ से कोई विशेष उपकार न होता हो, तभी अनर्थक होते हैं।[२] यदि सम्भव हो तो ये भी अर्थवान ही रहते हैं। अर्थ की सम्भावना न होने पर *'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'* न्याय से पादपूर्ति ही इनका एकमात्र प्रयोजन माना जाता है।

महर्षि यास्क के अनुसार 'इव, खलु, नूनम् और सीम्' भी यथा आवश्यकता पादपूरणार्थक होते हैं। परन्तु ऐसा कम होता है।

आचार्य माधवभट्ट ने (ऋग्वेदानुक्रमणी ३.१.१४ में) उपर्युक्त के अतिरिक्त 'अथ, अध, आत्, उत्, उत, किल, घ, च, चित्, न, नाम, वै, स्म, ह' निपातों को भी पादपूरणार्थक ही कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि यास्क ने निरुक्त के निपात प्रकरण के अन्तर्गत कुल तेईस निपात गिनाए हैं। १. अह २.आ ३. इत् ४. इव ५. ईम् ६. उ ७. उत् ८. कम् ९. किल् १०.

१- ऊनानां पूरणार्था वा पादानामपरे क्वचित्। मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु पूरणार्थास्त्वनर्थकाः। कमीमिद्विति विज्ञेया ये त्वनर्थकाश्च ते। (बृहद्देवता २.९०-९१)।

२ - स्फुटत्वोद्ग्रहणादिश्च क्वचित् सूक्ष्मः क्वचित् स्फुटः। यत्र स्फुटास्तदा सार्थाः सूक्ष्मे स्युः पूरणा इति। ऋग्वेदानुक्रमणी ३.१.१८।

खलु ११. च १२. चित् १३. त्वत् १४. न १५. ननु १६. नु १७. नूनम् १८. मा १९. वा २०. शश्वत् २१. सीम् २२. ह और २३. हि । कुछ विद्वान 'त्व' को भी निपात मानते हैं परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि महर्षि यास्क 'त्व' को निपात नहीं मानते हैं । इसके अतिरिक्त 'नेत्, नो, चेत्' ये तीन संयुक्त निपात भी माने जाते हैं ।

इसके अतिरिक्त निपातों की सङ्ख्या के विषय में परवर्ती विद्वानों में पर्याप्त मतान्तर दृष्टिगोचर होते हैं । जैसे कि वार्तिककार कात्यायन ने शुक्लयजुः प्रातिशाख्य (२.१६) में चौदह निपात गिनाए हैं तो आचार्य माधवभट्ट ने ऋग्वेदानुक्रमणी (३.१.१-१२) में ऋग्वेद संहिता में प्रयुक्त निपातों की सङ्ख्या एक सौ तीस तक बताई है ।

इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात की सोदाहरण व्याख्या करने के पश्चात् महर्षि यास्क कहते हैं – *'इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनु-क्रान्तानि । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च ।'* और इसी के साथ हमारे इस शोधप्रबन्ध का 'निघण्टु एवं निरुक्त के पदों का वर्गीकरण' नामक तृतीय अध्याय भी पूर्ण हुआ ।